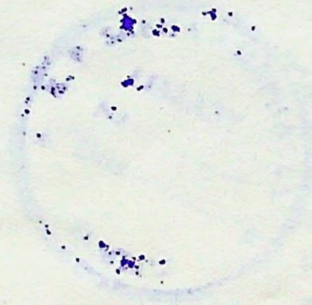
धर्म मार्ग

अनुक्रमणिका

जम्मू व काश्मीर धर्मार्थ ट्रस्ट प्रकाशन।





धर्मो रक्षति रक्षितः

धर्मो रक्षति रक्षितः

धर्म मार्ग

वर्ष 1 | त्रैमासिक अक्टूबर 1980 | अंक 1



जम्मू व काश्मीर धर्मार्थ ट्रस्ट

आवरण के चित्रकार — ओ० पी० शर्मा 'सारथी'
कम्पोजिंग — द्वारिका नाथ 'गुरु'
मुद्रक — डोगरा प्रिंटिंग प्रेस, जम्मू।

एक प्रति : 3 रुपये
वार्षिक : 12 रुपये

गणेशदास शर्मा द्वारा धर्मार्थ ट्रस्ट के लिए प्रकाशित

सम्पादकीय

'धर्म मार्ग' जम्मू-काश्मीर राज्य के धर्मार्थ ट्रस्ट की पत्रिका है। इस ट्रस्ट को स्थापना लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले हुई थी। इस ट्रस्ट ने सनातनधर्म तथा संस्कृत भाषा और साहित्य की सेवा के लिए जो २ कार्य किए, उन का विवरण बड़ा गौरव-शाली है। इस पत्रिका के आगामी अंकों में इस ट्रस्ट की विविध गति-विधियों, उपलब्धियों तथा भावी योजनाओं के विषय में जानकारी प्रस्तुत करने का हम यथा-शक्ति यत्न करते रहेंगे।

वस्तुतः 'धर्म मार्ग' का प्रकाशन आज से कुछ वर्ष पहले मासिक पत्रिका के रूप में शुरू हुआ था। फिर किन्हीं कारणों से इस का प्रकाशन रुका रहा। अब पुनः इसे त्रैमासिक पत्रिका के रूप में प्रकाशित करने का फैसला किया गया है। इसी निर्णय के फल-स्वरूप 'धर्म-मार्ग' का यह पहला अंक आप के हाथों में है। 'धर्म मार्ग' का यह अंक, भगवान् श्रीकृष्ण के महिमामय एवं अलौकिक चरित्र को समर्पित है। इस अंक में हमने स्थानीय विद्वानों की ही रचनाओं को सम्मिलित किया है। भावी अंकों में हम, भारत के दूसरे प्रदेशों के विद्वानों की रचनाओं को भी सहर्ष शामिल करेंगे। हमें आशा है कि हमारे राज्य से बाहिर के मनीषी विद्वानों का आशीर्वाद और सहयोग भी हमें मिलता रहेगा जिस से हम 'धर्म मार्ग' के प्रकाशन को व्यापक स्तर पर ला सकेंगे तथा पत्रिका के मूल उद्देश्य को भी सुचारू ढंग से प्राप्त कर सकेंगे। हम अवश्य यह प्रार्थना करेंगे कि 'धर्म मार्ग' क कलेवर की सीमा को देखते हुए मान्य विद्वान् अपनी रचनाओं के कलेवर को उचित रूप प्रदान करेंगे। स्वीकृत रचनाओं के लेखकों को नियमानुसार उपायन पारिश्रमिक भी भेंट किया जाएगा।

पत्रिका को अपने उद्देश्य के अनुकूल ढालने तथा इसे रोचक, पठनीय एवं उपयोगी बनाने के लिए बहुमूल्य सुझावों का हम स्वागत करेंगे।

कैहर सिंह 'मधुकर'

शुभ संदेश

संदेश



मुझे प्रसन्नता है कि कुछ वर्षों के व्यवधान के पश्चात् 'धर्म मार्ग' फिर से प्रकाशित होने जा रहा है। धर्मार्थ ट्रस्ट जम्मू व काश्मीर भारतवर्ष के विशाल धार्मिक संस्थाओं में से एक है। सौ मंदिरों तथा तीर्थस्थानों के प्रबंध के अतिरिक्त धर्मार्थ ट्रस्ट का कार्य अन्य प्रकार से धर्म का प्रचार करना भी है। संस्कृत-शिक्षा, काश्मीर-शैव-सिद्धान्त का प्रतिष्ठान तथा अनुसंधान का कार्य भी धर्मार्थ ट्रस्ट कर रहा।

इस संदर्भ में एक मुख्य पत्रिका की प्रबल आवश्यकता है जिस में धर्मार्थ ट्रस्ट के अन्यान्य कार्यक्रमों के विवरण के अतिरिक्त धर्म पर लेख प्रकाशित हो सकें। कुछ वर्ष पूर्व 'धर्म मार्ग' का प्रकाशन आरम्भ हुआ था जो किन्हीं कारणवश स्थगित हो गया। मुझे आशा है कि 'धर्म मार्ग' से न केवल जम्मू और काश्मीर के धर्म-प्रेमी जनों को ही लाभ होगा अपितु भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों में भी पाठक इस से लाभान्वित होंगे।

कर्ण सिंह

संदेश

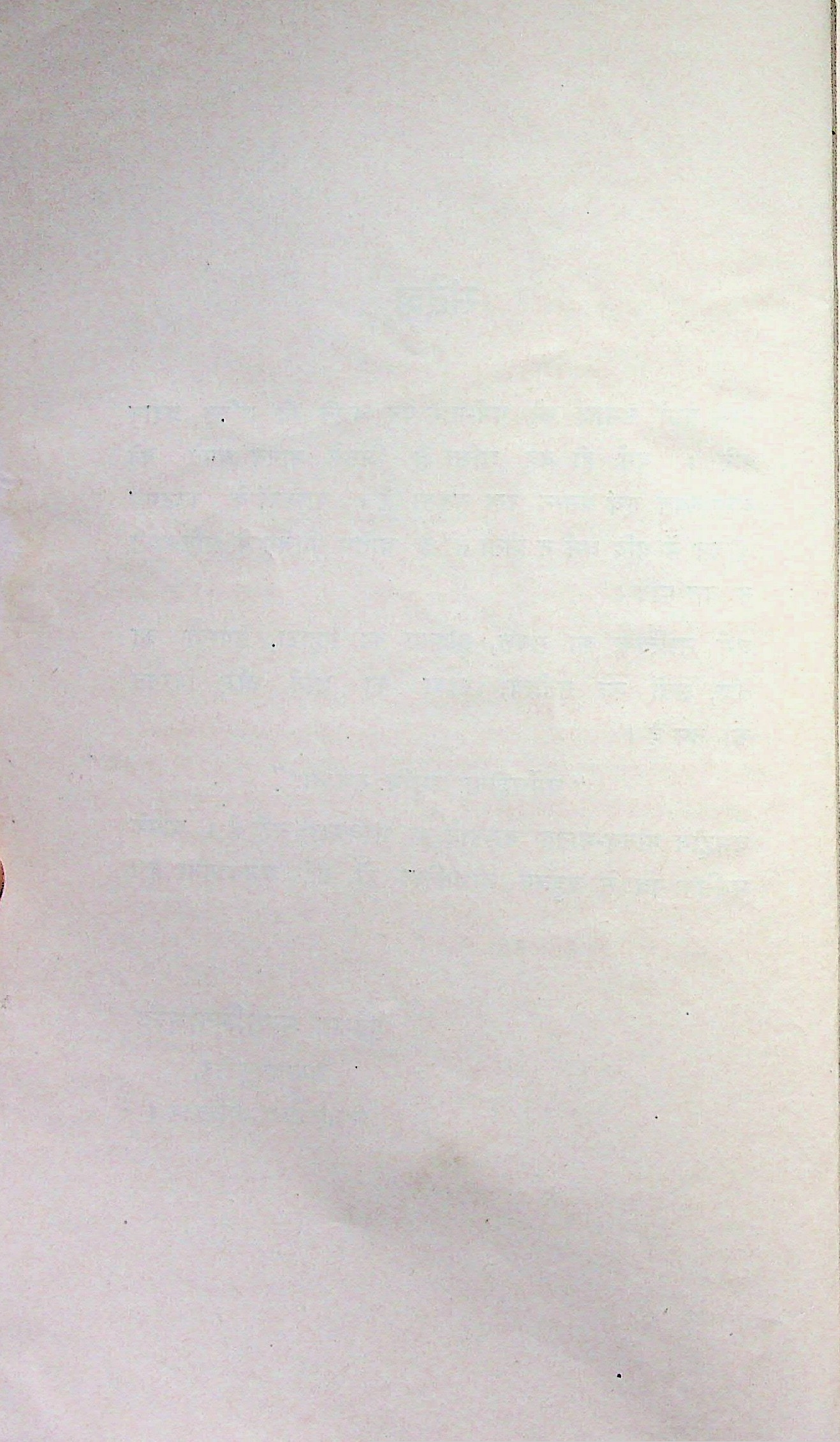
'धर्म मार्ग' समाज को धर्म-मार्ग पर चलने की शक्ति प्रदान करे। धर्म ही वह शक्ति है जिससे मानव अपने को व्यवस्थित एवं प्रसन्न रख सकता है। पाण्डवों के कष्टमय जीवन में यदि धर्म न होता तो वे अंतिम विजय के अधिकारी न बन पाते।

धर्म सात्विक का संबल, दुखिया का सहारा, तपस्वी का तेज, सती का सतीत्व, योद्धा का शौर्य और विरक्त का तप है।

"धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः"

धर्महीन मानव-मानव कहलाने का अधिकारी नहीं है। आपके मासिक पत्र से बहुजन लाभान्वित हों, यही शुभकामना है।

स्वामी सत्यमित्रानन्द
समन्वयकुटीर,
सप्तसरोवर, हरिद्वार।



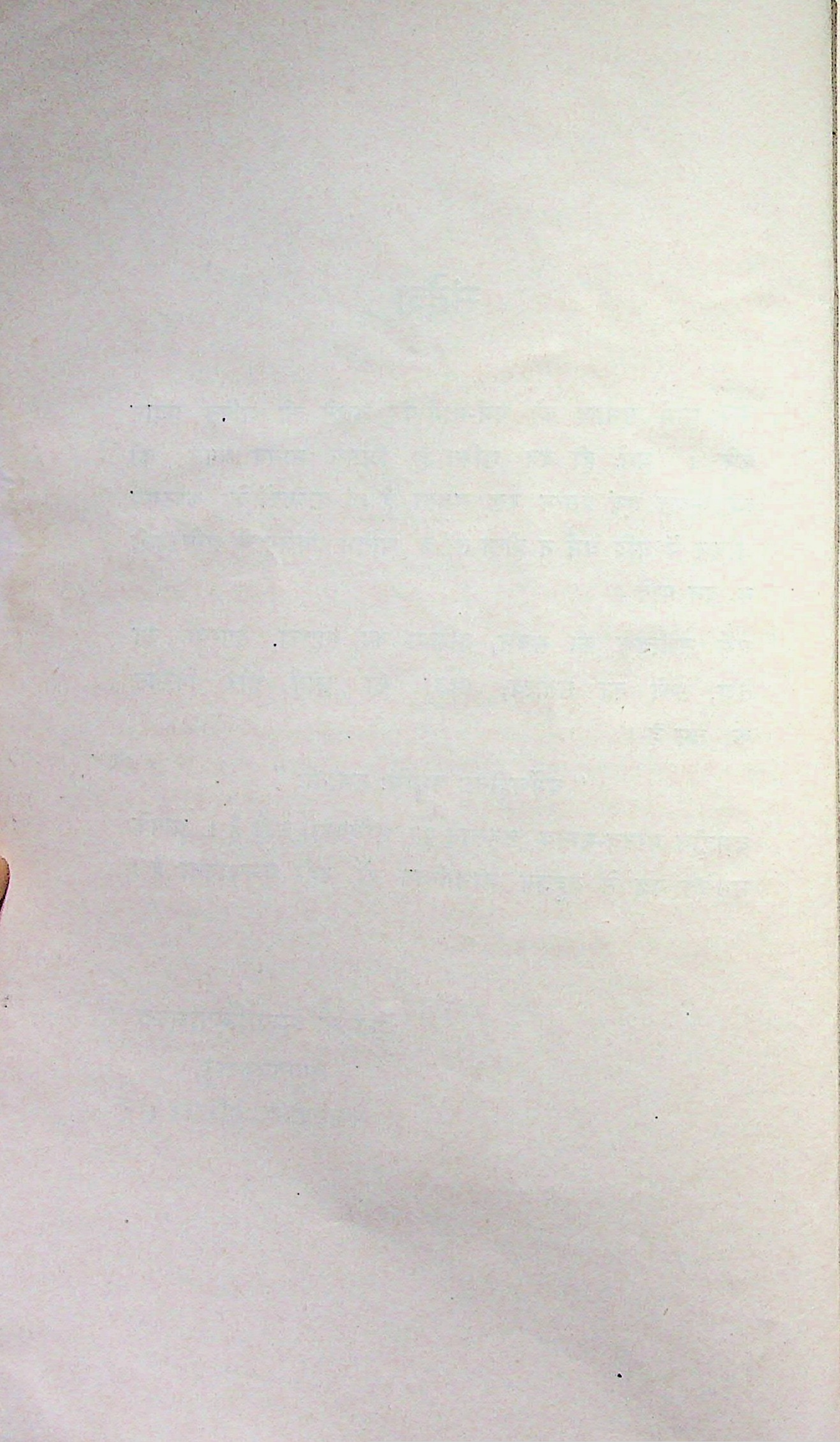
भारतीय दर्शन के मूल सिद्धान्त

विश्व के नाम भारत का संदेश

डॉ० कर्ण सिंह

हज़ारों साल पहले का इतिहास यह बताता है कि भारत कभी एक महाद्वीप नहीं रहा। यहां तक के सभ्यता के विकास तक से ही यही स्थिति रही। बहुत प्राचीन समय से लेकर न जाने कितने तरह के विचार और सिद्धांत, हवा के प्रवाह के साथ विभिन्न देशों से यहां आये हैं। यह इस देश की महानता है कि उस ने इन सारे प्रवाहों को इस तरह ग्रहण किया है कि वे यहां की धरती के साथ आत्मसात् हो गये और इस देश के ही एक अंग बन गये। विचारों को लेने में इस देश ने हमेशा से अपनी खिड़कियां खुली रखी हैं। ऋग्वेद में लिखा है कि--"आनो भद्रा क्रतो यंतो विश्वतः" (सभी दिशाओं से पवित्र विचारों को भीतर आने दो) यह एक बहुत बड़ा प्रमाण है कि सृजनात्मकता को कितने खुले ढंग से स्वीकार किया गया है। लगभग यही विचार महात्मा गांधी ने व्यक्त किये हैं। उनका कहना है, "मैं नहीं चाहता कि हमारे मकानों के चारों तरफ दीवारें हों और हमारी खिड़कियां बंद कर दी जाएं। मैं चाहता हूँ कि सारे देशों की सभ्यताएं मेरे घर के भीतर, जितने आसान ढंग से संभव हो सके, प्रवेश करें। लेकिन मैं उन हवाओं के साथ किसी भी तरह बह जाना स्वीकार नहीं करुंगा।"

यह सत्य है कि इतिहास में भारत उन इने-गिने देशों में से एक है, जिस के सिद्धांतों से अनेक देश प्रभावित हुए हैं। भारत का यह प्रभाव केवल पड़ोसी देशों तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों (जिन में चीन और जापान शामिल हैं) तक को शताब्दियों पहले से भारतीय विचारों ने प्रभावित किया है। अब कुछ समय से पश्चिमी जगत् में भी भारतीय दर्शन एवं विचारों का प्रभाव फैलता जा रहा है। यहां तक कि पिछले दशक में भारतीय चीजों के प्रति बेहद रुचि जागृत हुई है और यह रुचि केवल पूर्वी सभ्यता के प्रति रुचि रखने



भारतीय दर्शन के मूल सिद्धान्त

विश्व के नाम भारत का संदेश

डॉ० कर्ण सिंह

हजारों साल पहले का इतिहास यह बताता है कि भारत कभी एक महाद्वीप नहीं रहा। यहां तक के सभ्यता के विकास तक से ही यही स्थिति रही। बहुत प्राचीन समय से लेकर न जाने कितने तरह के विचार और सिद्धांत, हवा के प्रवाह के साथ विभिन्न देशों से यहां आये हैं। यह इस देश की महानता है कि उस ने इन सारे प्रवाहों को इस तरह ग्रहण किया है कि वे यहां की धरती के साथ आत्मसात् हो गये और इस देश के ही एक अंग बन गये। विचारों को लेने में इस देश ने हमेशा से अपनी खिड़कियां खुली रखी हैं। ऋग्वेद में लिखा है कि--"आनो भद्रा क्रतो यंतो विश्वतः" (सभी दिशाओं से पवित्र विचारों को भीतर आने दो) यह एक बहुत बड़ा प्रमाण है कि सृजनात्मकता को कितने खुले ढंग से स्वीकार किया गया है। लगभग यही विचार महात्मा गांधी ने व्यक्त किये हैं। उनका कहना है, "मैं नहीं चाहता कि हमारे मकानों के चारों तरफ दीवारें हों और हमारी खिड़कियां बंद कर दी जाएं। मैं चाहता हूँ कि सारे देशों की सभ्यताएं मेरे घर के भीतर, जितने आसान ढंग से संभव हो सके, प्रवेश करें। लेकिन मैं उन हवाओं के साथ किसी भी तरह बह जाना स्वीकार नहीं करुंगा।"

यह सत्य है कि इतिहास में भारत उन इने-गिने देशों में से एक है, जिस के सिद्धांतों से अनेक देश प्रभावित हुए हैं। भारत का यह प्रभाव केवल पड़ोसी देशों तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों (जिन में चीन और जापान शामिल हैं) तक को शताब्दियों पहले से भारतीय विचारों ने प्रभावित किया है। अब कुछ समय से पश्चिमी जगत् में भी भारतीय दर्शन एवं विचारों का प्रभाव फैलता जा रहा है। यहां तक कि पिछले दशक में भारतीय चीजों के प्रति बेहद रुचि जागृत हुई है और यह रुचि केवल पूर्वी सभ्यता के प्रति रुचि रखने

वाले विद्वानों तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि उस ने एक बड़े जन-समूह को, विशेष कर युवा-पीढ़ी को, प्रभावित किया है ।

अनेक चेहरे वाली सभ्यता

भारत की सभ्यता के बहुत से चेहरे हैं और वह बहुत पुरानी भी है, इसलिए विश्व को उस ने न जाने किनने तरह से प्रभावित किया है। उदाहरण के लिए मैथिमैटिक्स, (अंक शास्त्र) को लिया जा सकता है। 'ज़ीरो' या शून्य का उद्भव भारत से ही हुआ है, जिस के बिना किसी भी तरह का विज्ञान विकसित नहीं हो सकता था। औषधि के क्षेत्र में आयुर्वेद है जो सब से प्राचीन विद्या है और औषधि-विज्ञान के क्षेत्र में सर्वोत्तम पद्धति है। वास्तुकला को ही लीजिए, इस दृष्टि से एलोरा की वे प्रस्तर गुफाएं हैं जो और कहीं नहीं मिल सकतीं। दक्षिण-भारत के मन्दिर हैं जिन की कहीं बराबरी नहीं है। इन सब में एक असाधारण एवं अद्भुत कला-कौशल का प्रतीक—ताज महल है। नृत्य की दृष्टि से भारत-नाट्यम् और दूसरे शास्त्रीय नृत्यों का उल्लेख जरूरी है, जिनका उद्भव और विकास भारत के नाट्य-शास्त्र से हुआ है। संगीत में चाहे वह कर्नाटक पद्धति का संगीत हो अथवा हिन्दुस्तानी पद्धतिका दोनों ने पश्चिमी जगत् पर बहुत प्रभाव डाला है। मनोविज्ञान में 'योग' का महत्वपूर्ण स्थान है, जिस के द्वारा मनुष्य मानव-मस्तिष्क के गूढ़तम रहस्यों को सुलझा सकता है। और फिर है मनोविश्लेषण जिसे अभी तक मनुष्य विकसित नहीं कर सका। भाषा-शास्त्र और साहित्य की दृष्टि से संस्कृत-जैसी दूसरी समृद्ध भाषा दुनिया भर में नहीं है। फिर दर्शन की बात आती है तो हमारे सामने है उपनिषदों के मार्गदर्शक प्रतीक जो समय के प्रवाह में अडिग खड़े रहे। और इन के अतिरिक्त हैं स्वामी विवेकानन्द तथा श्री अरविंद।

इस बात का पता लगाना भी लगभग असंभव है कि भारत ने विश्व को अपनी संस्कृति के कौन-कौन से महान तत्व सौंपे हैं। तब भी पांच ऐसे मूलभूत विचार हैं जिन्हें भारतीय संदेश की मूल-आत्मा कहा जा सकता है। इन विचारों के विकास में भारत के प्रत्येक धर्म, जाति, भाषाई-समुदाय और वृत्तियों ने योगदान दिया है। ये संदेश किसी एक समूह की उपलब्धि नहीं है, बल्कि यह एक ऐसे राष्ट्र की बहुमुखी अभिव्यक्ति है जिस ने हजारों वर्षों से अपनी सांस्कृतिक जड़ों को सुरक्षित रखा है।

मानव समाज की एकता

भारतीय संस्कृति के पांच मूलभूत सिद्धांतों में से पहला सिद्धांत है—मानव समाज की एकता। बहुत कम देश राष्ट्रीयता की प्रबल भावना से ऊपर उठ कर

समूची मानव जाति की एकता का स्वप्न देख सके हैं। केवल भारत ही ऐसा देश है जिस ने १९ वीं शती के महान् पुनर्जागरण के बाद आधुनिक अर्थों में राष्ट्रवाद को स्वीकार करने के बावजूद समूचे मानवसमुदाय को एक परिवार समझा है 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धांत में भारत की यही भावना निहित है।

विज्ञान और टेक्नालॉजी ने हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों द्वारा देखे गये स्वप्नों को साकार कर दिया है। हमारी आंखों के सामने ही समय और अंतरिक्ष सिकुड़ कर छोटे होते जा रहे हैं। चंद्रमा से लिये गये पृथ्वी के असाधारण चित्र हमें बताते हैं कि हमारा यह ग्रह कितना सुन्दर है, पर कितना कमजोर और नश्वर भी। जैसे-जैसे बीसवीं शताब्दी समाप्त हो रही है, वैसे-वैसे इस पृथ्वी पर रहने वाले मानव-समाज की बुनियादी एकता की धारणा भी बलवती होती जा रही है।

सर्वधर्म सममाव

भारत ने सदियों के दौरान जिस दूसरे सिद्धांत को विकसित किया है, वह है—'सर्व धर्म समभाव का सिद्धांत'। मनुष्य सदैव ईश्वर को पाने का आकांक्षी रहा है। तमाम धार्मिक खोजों के मूल में मनुष्य की यही भावना काम करती रही है। फिर भी ईश्वर को पाने की यह भावना व्यवहार में विभिन्न धर्मों के मानने वालों के बीच दंगा-फसाद का कारण बनी। क्योंकि इन में से प्रत्येक यही समझता रहा कि उसका ही लक्ष्य सही है। विभिन्न धर्मों को मानने वाले लोगों ने स्वयं अपने समान-धर्मस्वलंवियों पर भी क्रूर अत्याचार किये हैं। ईश्वर के नाम पर दूसरों का कितना खून बहाया गया है और उन्हें कितनी पीड़ा पहुँचाई गयी है, कितना विनाश किया गया है, इस बात का पता तो आज के आधुनिकतम कंप्यूटर भी नहीं लगा सकते। भारत में भी धर्म के नाम पर झगड़े होते रहे हैं, फिर भी भारतीय संस्कृति ने ईश्वर-प्राप्ति के विभिन्न मार्गों को न केवल मान्यता दी है बल्कि उन्हें स्वीकार भी किया है। ऋग्वेद में भी कहा है—'सत्य एक है'। विद्वान् कई नामों से उसी को पुकारते हैं। भारत में हिंदु धर्म को मानने वाले बहुसंख्यक समुदायों के इलावा लाखों मुसलमान, बौद्ध, जैन, ईसाई और यहूदी।

काश्मीर में शैव-परम्परा और सूफी दर्शन का अद्भुत समन्वय हुआ है, और उस से उत्पन्न—ऋषि संप्रदाय, हिंदुओं-मुसलमानों दोनों के लिए पवित्र हैं। आधुनिक काल में रामकृष्ण, स्वामी विवेकानंद, महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरु ने भी सभी धर्मों को समान रूप से स्वीकार करने के इस दृष्टिकोण को दोहराया। उन्होंने यह बात भी दोहराई कि यद्यपि मार्ग अलग-अलग हैं, पर उनका लक्ष्य एक है। 'भारत की एकता' के प्रश्न पर जवाहर लाल नेहरु ने लिखा है,

'धार्मिक मामलों में यूरोप में व्याप्त असहिष्णुता की भारत के सम्पूर्ण इतिहास में मौजूद अहिष्णुता की भावना से तुलना करना एक दिलचस्प बात है। ईसा के बाद पहली शताब्दी में ही ईसाई धर्म भारत में पहुंच गया। यह यहां फैला और पनपा। उस समय यूरोप को इस धर्म का ज्ञान ही नहीं था। भारत में ईसाईधर्म का कोई विरोध नहीं किया गया, बल्कि जहां उस का स्वागत ही हुआ। आज भी भारत में ऐसे अनेक प्रारंभिक ईसाईसंप्रदाय फल-फूल रहे हैं जिन का यूरोप में दमन करके अस्तित्व समाप्त कर दिया गया है। यहां नेस्टोरियन और विभिन्न सीरियाई ईसाई संप्रदाय हैं। १८०० वर्ष से भी पहले यहूदी भारत आये। यहां उन का भी स्वागत किया गया। आज भी वे एक प्राचीन नगर के विभिन्न भागों में अपना समुदायिक जीवन बिता रहे हैं जो पुराने यरुशलम के जीवन से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। फारस से निकाले जाने के बाद पारसी भारत आये और तब से वे यहां फल-फूल रहे हैं। इस्लाम के उदय के तत्काल बाद मुसलमान भारत आये और उनका भी स्वागत किया गया। उन्हें भी अपने धर्म का प्रचार करने के पूरे अवसर मिले। केवल सीमाओं को छोड़ कर सदियों तक कोई दूसरा संघर्ष नहीं हुआ। यह संघर्ष भीत भी हुआ जब मुसलमान हमलावर और विजेता के रूप में आये।

किसी भी धर्म के प्रति सहिष्णुता बरतना अधिक से अधिक एक नकारात्मक दृष्टिकोण ही कहा जाएगा, किन्तु सभी धर्मों को हर्षपूर्वक स्वीकार करना भारत की ही एक विलक्षण देन है।

'स्व' की दिव्यता

व्यक्ति के स्व की प्रतिष्ठा एवं दिव्यता का सिद्धांत भारतीय संस्कृति के मानव-एकता एवं सर्वधर्मसमभाव के सिद्धांतों से ही उपजा है। बहुधा ऐसा प्रतात होता है कि भारतीय समाज विभिन्न श्रेणियों, आचार-संहिताओं, सामाजिक कर्त्तव्यों और स्तर के बंधनों में इस तरह जकड़ा हुआ है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता का कोई अर्थ ही नहीं रह गया है, पर हमें यह भी याद रखना चाहिए कि इन सामाजिक आचार-संहिताओं के समानांतर एक और मूलभूत धारणा का भी अस्तित्व है।

यह मूल भूत धारणा है मनुष्य की दिव्यता की। किसी धर्म, जाति, रंग, भाषा या देश का कोई भी व्यक्ति, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, ईश्वरीय सत्ता का ही एक अंश है। भारतीय दर्शन का विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति में आध्यात्मिक विकास और पुनर्जन्म की क्षमता के बीज निहित होते हैं। इस लिए उपनिषदों में मनुष्यों को 'अमृतस्य पुत्र' अर्थात् 'अमरत्व के पुत्र' कहा गया है। चाहे कितनी ही विपरीत

ग्रौर विरोध भरी स्थितियां क्यों न हों, मनुष्य के भीतर दिव्यता की एक ऐसी चिंगारी होती है, जो ग्राध्यात्मिक ज्ञान की ज्वाला का रूप धर सकती है।

यही विश्वास प्रत्येक व्यक्ति को तमाम सामाजिक रीति-रिवाजों ग्रौर परम्पराग्रों से श्रेष्ठ स्थान प्रदान करता है। ग्राज जब मनुष्य की प्रतिष्ठा का ह्रास हुग्रा है विभिन्न समूह सैंकड़ों तरीकों से मनुष्य के व्यक्तित्व पर ग्रपने प्रभाव का बोझ डाल रहे हैं, तब भारतीय संदेश का यह पक्ष कोई कम महत्व नहीं रखता।

सृजनात्मक समन्वय का गुण

भारत द्वारा विश्व को दिया गया चौथा संदेश समन्वय एवं संहतिवाद की ग्रखोखी धारणा से प्रस्फुटित हुग्रा है। विश्व में एक ग्रोर है कर्म का संसार तो दूसरी ग्रोर है ध्यान की वह स्थिति, जिस में व्यक्ति स्वयं को बाहरी संसार से पृथक् कर भीतर समेट लेता है। इन के बीच भारत गीता के उस महान् ग्रादर्श को मानता है जिस में कर्म ग्रौर ज्ञान को ईश्वर के प्रति पूर्णरूप से समर्पित करके, एक माना गया है। पदार्थ ग्रौर ऊर्जा के क्रूर संघर्ष के विरुद्ध भारतीय दर्शन तमाम ग्रस्तित्व धारी प्राणियों के बीच एक मूलभूत एकता पर जोर देता है।

ईशोपनिषद में भी कहा गया है—जो ऊर्जा एक ग्रणु में है वही संपूर्ण ब्रह्मांड में भी है। ग्राज विश्व में विज्ञान एवं धर्म के बीच संघर्ष छिड़ा हुग्रा है, लेकिन भारतीय दर्शन यह मानता है कि ये दोनों बातें एक ही सत्य की ग्रोर पहुँचने वाले दो भिन्न मार्ग हैं।

मनुष्य ने इस धरती की सीमाग्रों को तोड़ कर ग्रंतरिक्ष में पहुँचने की नयी क्षमता प्राप्त कर ली है। इस संदर्भ में भारत ने ब्रह्मांडसंबन्धी जो ज्ञान दिया है, उस का विशेष महत्व है। हमारे यहां चार युगों की कल्पना की गई है। ये युग ब्रह्मा का एक दिन माने गये हैं। इन चारों युगों का समयावधि है ४.३२ खरब वर्ष। यह संख्या किसी भी गणना से ग्रधिक वास्तविक है।

हम ग्रतीत ग्रौर भविष्य की, धरती ग्रौर स्वर्ग की, प्रकाश ग्रौर ग्रंधकार की संतानें हैं। हम नश्वर हैं, साथ ही ग्रमर भी। समय की सीमा में बांधे रहने के बावजूद हम सनातन हैं। हम में, ग्रपनी सांसारिक सीमाग्रों से ऊपर उठ कर ग्रंतरिक्ष में ही नही, बल्कि ससय की गहराइयों तक में भी पहुँचने की क्षमता है।





नयौ नेह, नयौ गेह नयौ रस,

नवल कुंवरि वृष भान - किसोरी ।

नयौ पीतांवर, नई चूनरी,

नई-नई बूंदनि भींजति गोरी ।।

नये कुंज, अति पुंज नये द्रुम,

सुभग जमुन-जल पवन हिलोरी ।

'सूरदास' प्रभु नव रस बिलसत,

नवल राधिका जीवग-भोरी ।।

—सूरदास

बाल विनोद खरो जिय भावत ।

मुख प्रतिबिंब पकरिबे कारन हुलसि घुटरुवनि धावत ।।

अखिल ब्रह्माण्ड-खंड की महिमा सिसुता माहिं दुरावत ।

सब्द जोरि बोल्यौ चाहत है, प्रगट बचन नहिं आवत ।।

कमल-नैन माखन मांगत है करि-करि सैन बतावत ।

'सूरदास' स्वामी सुख-सागर, जमुमति-प्रीति बढ़ावत ।।

—सूरदास

दार्शनिक श्रीकृष्ण

—डॉ० कौशल्या वल्ली

श्रीकृष्ण प्रसङ्ग एक गम्भीर विषय है। तीन प्रकार की लीला है—पारमार्थिक, प्रातिभासिक ग्रौर व्यावहारिक। पारमार्थिक लीला निरन्तर अक्षर ब्रह्म के भीतर होतो है, प्रातिभासिक लोला का क्षेत्र भक्त के हृदय में है ग्रौर व्यावहारिक लोला इसी पृथ्वी पर होती है। पार्थिव लीला ऐतिहासिक ग्रालोचना का विषय है। तीनों लीलाग्रों में परस्पर सम्बन्ध है।

दार्शनिक श्रीकृष्ण मानवता के पथप्रदर्शक हैं। उन की भगवद्‌गीता एक ग्रनुपम भेंट है मानव-जगत् को। क्षत्रिय योधा ग्रर्जुन महाभारत की लड़ाई लड़ने से पहले ग्रनेक युद्धों में भाग ले चुका था। ग्रपने सगे सम्बन्धियों को रणक्षेत्र में ग्रामने सामने देख कर ग्रर्जुन मोहान्ध हो जाता है, किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। ग्रर्जुन की मानसिक दशा प्रत्येक मानव के जगत् को प्रतिबिम्बित करती है। श्रीकृष्ण की गीता इस ग्रन्धकार में नर के लिए प्रकाश है। गीता मानव को जीने की कला सिखलाती है।

श्रीकृष्ण निरासक्त हो कर, सांसारिक कार्य, करने की राह बतलाते हैं। श्रीकृष्ण का दर्शन मानव मनोविज्ञान की दृढ़ नींव पर ग्राश्रित है।

ग्राज का मानव दम्भ ग्रौर पाखण्ड से घिरा हुग्रा है। जो है नहीं, वही ग्रपने को दिखलाने की चेष्टा में है। परिणाम भयावह है। भीतर कुछ, बाहिर कुछ। बाह्य तौर पर मानव ग्रपने को यदि भोग से दूर रखे किन्तु भीतर से इन्द्रियों के विषयों पर ध्यानस्थ हो तो फलतः उस का मन ऐसे विचारों के प्रति ग्रासक्त हो जाता है ग्रौर उसमें दृढ़ इच्छाग्रों की उत्पत्ति होती है। ग्रपूर्ण इच्छाग्रों से क्रोध एवं क्रोध से मोह तथा मोह से विवेक का नाश हो जाता है। विवेकहीनता मानव के नाश का मूल कारण है। श्रीकृष्ण इच्छाग्रों को वशीभूत करने की प्रेरणा देते हैं। इच्छा का दास नहीं बनो इच्छा को दास बनाग्रो—यही

श्रीकृष्ण का जीवन-दर्शन है। दूसरों को मानव ने अपने व्यवहार से जीतना है। अपने दोषों का आत्मविश्लेषण करके निराकरण करने का प्रयास करना है। आत्म-संयम परमसत्ता के साथ सम्बन्ध जोड़ने से प्राप्त होता है। परमसत्ता हर जीव में विद्यमान है, उस के साथ नाता जोड़ने से निर्विघ्न शान्ति की प्राप्ति होती है।

दार्शनिक श्रीकृष्ण के कथनानुसार मानव का कर्त्तव्य है कर्म करना, फल की आकांक्षा रखना नहीं। सफलता अथवा असफलता को समान रूप से सहन करना है। सफलता और असफलता को एक समान ग्रहण करना, "श्रीकृष्ण योग" के नाम से पुकारा जाता है।

संसार में रहते हुए औरकार्य करते हुए मानव किस प्रकार से परे रहे ! इस प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण का यही कहना है कि बाह्यरूप से मानव ने जो भी कर्म करना हो उसे वह परम सता को समर्पित करे और मन से कार्य का भार उसी परम सत्ता पर डाल दे। सततरूप से परम सत्ता की उपस्थिति अपने मन में रखे। उसी का ध्यान रखे, और सब कुछ उसी के लिए करने का अभ्यास करे और विचारे कि मैं उसी परमशक्ति के साहाय्य से सब कार्य कर रहा हूं। इस प्रकार के अभ्यास से मानव को कृपाप्राप्ति के साथ २ विघ्नों और बाधाओं पर विजय प्राप्त होगी। मन सर्वदा उसी परमशक्ति की उपस्थित्ति से ओतप्रोत हो, जीबन उसी को समर्पित हो और कार्य उसी की उपासना में भेंट रूप में अर्पित करे। यदि इस के प्रतिकूल अहं को प्राधान्य दे, तो वह विनाश का मार्ग है।

श्रीकृष्ण करुणा व क्षमा के प्रतीक हैं। इसी लिए तो कहते हैं—कितनी ही भूलें मानव ने क्यों न की हों, उस परमशक्ति में पूर्णरूपेण विश्वस्त होकर, उस के शरणागत होने से, निस्सन्देह सब पापों से मुक्ति मिलती है। भूतकाल में जितने विचारक हुए हैं जिनके अनमोल योगदान के कारण भारतीय संस्कृति की निजी अपूर्वता है, इन सब में श्रीकृष्ण का स्थान सर्वोपरि है। इसी कारण हिन्दु समाज उन्हें उत्कृष्ट सत्ता का पूर्ण अवतार मानता है। यह किसी भी व्यक्ति के लिए सर्वोच्च सन्मान है।

महाभारत जैसे महाकाव्य में श्रीकृष्ण प्रायः हमारे समक्ष आते हैं। बहुत से रूपों में हमारे सामने प्रकट होते हैं किन्तु कोई भी रूप हमारा ध्यान उतना आकृष्ट नहीं करता है जितना कि पार्थसारथि—अर्जुन के रथचालक—का रूप। पार्थसारथि के रूप में वह अधिक मानवीय प्रतीत होता है। दुःखी अर्जुन के लिए श्रीकृष्ण मित्र, दार्शनिक, और पथप्रदर्शक बन जाते हैं। अर्जुन के अशान्त मन को श्रीकृष्ण शान्त करते हैं। श्रीकृष्ण मनोवैज्ञानिक हो कर अर्जुन के मन का

विश्लेषण करते हैं। अपने सम्बन्धियों को देख कर पाण्डित्य की बात कहना, प्रेम, दया, कृपा दर्शाना अर्जुन के मोह को दर्शाता है। गुण प्राय: जनसामान्य के जीवन में निहित दुर्बलताओं को छिपाने वाला आवरण है। सामान्य जीवन में हम इस तथ्य को नहीं समझ पाते किन्तु जब जीवन में गम्भीर एवं गहन समस्याओं का समाधान ढूंढना पड़ता है, तभी अपने तथाकथित गुणों की यथार्थता का अनुभव होता है। यह अनुभूति पाने के लिए धीर का सा साहस चाहिए। इसी कारण श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—यह निकृष्ट दुर्बलता त्याग दे और यथार्थ में जाग्रत हो जा।

तदनन्तर श्रीकृष्ण अर्जुन के संशय दूर करना चाहते हैं और सत्य-ज्ञान जतलाते हैं। जीवन के संघर्षों से जब हम अभिभूत हो जाते हैं तभी हम ज्ञान-प्राप्ति के लिए पात्र बनते हैं। अर्जुन ऐसी ही दशा को आपन्न हुए थे, अतएव श्रीकृष्ण के पथप्रदर्शन के लिए अनुराध करते हैं। श्रीकृष्ण जीवनदर्शन बतलाते हैं जिस से मन स्थिर हो जाता है और जीवन के अनन्त कार्यकलापों में पांव डगमगाते नहीं। जीवन के हर कदम पर समस्याएं आन खड़ी होती हैं और दर्शन समाधान बतलाता है। दर्शन सत्य का ज्ञान कराता है जो जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान ढूंढ़ने में समर्थ है। दार्शनिक समाधान वे प्रतिज्ञायें नहीं हैं जो जीवन-समाप्ति के बाद पूर्ण हों। जो सत्य इस जीवन में अनुभूत न हो, उस का कोई मूल्य नहीं है। समस्या के अभाव में समाधान समाधान नहीं कहलाया जाएगा।

सत्य जीवन में चुपचाप प्रवेश करके रूपान्तर करता है। श्रीकृष्ण इसी सत्य को हमारे समक्ष रखते हैं, कोई रूढ़िगत धर्म नहीं। जीवन में स्थिरता की प्राप्ति के लिए और कठिनाइयों से जूझने के लिए आत्मविश्वास की अपेक्षा है। आत्म-स्वरूप ही मानव का वास्तविक स्वरूप है।

मानव का क्षुद्र अहं समस्त भूलों का मूल कारण है और झूठी मान्यताओं का जन्मदाता है और अपनी दैनिक अनुभूति में हर एक के विषय में हम उसी क्षुद्र अहं को निर्णायक बना बैठते हैं। सीमित होने के कारण यह अहं भूलों से नितान्त रहित नहीं हो सकता। सीमित अहं को परिपूर्ण अहं में लय करना ही जीवन का लक्ष्य है। श्रीकृष्ण के अनसार आत्मिक विकास अहं के क्षय से ही जाना जा सकता है।

विवेकशील मानव मन का सन्तुलन नहीं खोता, वह कर्त्तव्य करता है किन्तु फल की चिन्ता परम सत्ता पर छोड़ देता है। जीवन के बन्धनों से सतत मुक्त हुआ मानव उस दशा को प्राप्त कर लेता है जो हर बुराई से परे है। श्रीकृष्ण

का इस प्रकार का दार्शनिक विवेचन है। नैतिक और आध्यात्मिक अनुशासन में कर्त्तव्य की भावना पहला चरण है। कर्त्तव्य निभाने में मानव को अहं क्षीण करना पड़ता है। इस अवस्था में सतत संघर्ष और तनाव पैदा होता है किन्तु ज्योंही मानव अहं का विजेता बन कर 'अहं' को 'साक्षी' में परिणत कर देता है, कर्त्तव्य का उद्देश्य सम्पूर्ण हो जाता है और व्यक्ति उत्कृष्ट दृष्टिकोण से कार्य करता है। सब प्रकार के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करने की आन्तरिक प्रवृत्ति, स्वतन्त्रता और खुले वातावरण में उत्पतन की भावना, मानव को, उच्च अवस्था में कर्त्तव्य के विचार की आलोचना करने के लिए विवश करती है। कामनाओं और इच्छाओं की अपेक्षा कर्त्तव्य निश्चितरूपेण उच्च है किन्तु इस में विवशता की भावना है. उसे हम आन्तरिक विवशता भले ही क्यों न कहें अथवा शास्त्रों व विधि-निषेध के आधार पर वह वाह्य विवशता ही क्यों न हो, किन्तु विवशता है। अतएव, विवशता से ऊपर उठने की बात है। दूसरे के साथ निःस्वार्थ प्रेम से व्यवहार करना तीन प्रकार से हो सकता है। शास्त्रों के निर्देशानुसार अथवा गुरु के उपदेशानुसार आत्मीयता का व्यवहार अच्छा है, आन्तरिक आदेश के अनुसार अहैतुक प्रेम से पेश आना और भी अच्छा है, किन्तु जब प्रेम व्यक्ति की स्वतः अभिव्यक्ति होती है तो वह सर्वोच्च माना जाता है। पहली और दूसरी अवस्थाओं में स्वार्थ के अंश की सम्भावना रहती है परन्तु अहं के परिणामन और आत्म-मोह के निराकरण के साथ साथ, जीवन और प्रेम शाश्वत और शुद्ध रूप धारण करते हैं। जीवन स्वाभाविक हो जाता है और प्रेम की स्वतः अभिव्यक्ति का फूल पथिकों को सुगन्धित करता है। इसी प्रकार स्वतः सिद्ध प्रेम से ओतप्रोत व्यक्ति बिना किसी कारण सबसे प्रेम-व्यवहार करता है। इस अवस्था में मानव नियम अथवा आदेश के स्तर पर है। श्रीकृष्ण ने कर्त्तव्य से परे इस अवस्था का बहुत प्रकार से निवेचन किया है— यह वही स्तर है जिस पर बुद्ध और ईसा रहते थे।

साक्षीभाव की प्राप्ति होने पर जीवन का आमूल परिवर्तन हो जाता है। अहं के कारण जीवन ने साथ जो झूठे मूल्य जुड़े हुए थे, नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं और वे यथार्थ रूप में अपने आप को प्रकट करते हैं। यह जीवन नैतिक पूर्णता का जीवन है। मानव सब संघर्ष, हर्ष, घृणा, दुःख, स्पर्धा को तिलांजलि देता है और जीवन में एक महान् ऐक्य पाता है। प्रत्येक वस्तु की तार दूसरी वस्तु की तार के साथ जुड़ी हुई और मानव के साथ मिली हुई है। उसके होठों से केवल प्रेम के ही शब्द निःसृत होते हैं। उस के विचार जागतिक कल्याण के लिए होते हैं। श्रीकृष्ण के कथन-अनुसार ऐसा मानव सब जीवों के कल्याण में रुचि रखता है (सर्वभूतहिते रतः) और उस के कार्य और विचार लोकसंग्रहार्थ होते हैं।

हम में से प्रत्येक में सत्य निहित है, इस सत्य पर क्षुद्र अह का आवरण है। श्रीकृष्ण के अनुसार चाहे हम आत्मसमर्पण करें, या निरासक्त भाव से कार्य करें, चाहे हम मन का शान्त करें या विचारों का विश्लेषण करें, इस सब का तात्पर्य अहं का निराकरण करना है। जो भी आध्यात्मिक अभ्यास मानव करे, जीवन का जो भी पक्ष मानव जीना चाहे, एक बार यदि साक्षी का भाव उत्पन्न हो, तो हम जीवन के सभी द्वैतों और संघर्षों से परे होंगे और दृष्टिकोण की सार्वभौमिकता और हृदय की विशालता हमें प्राप्त होगी। केवल उतना ही नहीं, विशाल-हृदय की सीमा और दृष्टिकोण की जो विशालता हम संसार में पाते हैं, उसकी प्राप्ति का कई प्रकार से बखान करते हैं।

श्रीकृष्ण केवल एक जाति, सम्प्रदाय के नहीं, अपितु समस्त मानवता के हैं। श्रीकृष्ण का एक सन्देश है—शक्ति का सन्देश—सन्देश जो मानव को आत्माभिव्यक्त के उच्च स्तर पर पहुंचा देता है। प्रत्येक नर नारी से श्रीकृष्ण सत्य की ओर प्रस्थान करने को कहते हैं।

श्रीकृष्ण के वचन प्रज्ञा का स्वरूप हैं। उन का ज़ोर मुख्यतया दो बातों पर है—(1) गुणों की उत्पत्ति विवेक से है और होनी चाहिए, किसी प्रकार के भय से नहीं—(2) हमारे कार्य स्वार्थ, अहङ्कार से युक्त प्रवृत्ति से नहीं शासित होने चाहिए, किन्तु हमें यह अनुभव करना चाहिए कि परम सत्ता की इच्छा को ही हम कार्यान्वित करते हैं। श्रीकृष्ण जब अर्जुन से रणक्षेत्र में युद्ध करने के लिए कहते हैं तो इस का यह अर्थ कदापि नहीं है कि युद्ध और मारना किसी भी प्रकार वाञ्छि है, श्रीकृष्ण केवल इतना ही समझाते हैं कि अर्जुन की अपने सम्बन्धियों के प्रति तथाकथित सहानुभूति केवल उस के भय और अहम् का ही दूसरा रूप है। "अशोच्या नन्वशोचस्त्वं" अनावश्यक चिन्ता नहीं करनो चाहिए। शारीरिक, मानसिक और मनोवैज्ञानिक शक्तियों को चिन्ता में न लगा कर वर्तमान से सम्बन्धित कार्य में लगाना चाहिए। सत्य की राह पर चलते-चलते दुःख, हार और अपमान की कटु औषधि को निगलने की विधि गीता बतलाती है।

श्रीकृष्ण ने जीवन जीने की कला बतलाई है। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में क्या करना है—श्रीकृष्ण इस सम्बन्ध में पथप्रदर्शक हैं। कृष्ण का सच्चा शिष्य अनन्त की उपस्थिति में रहता है और उस सृष्टि के प्रति दयावान् है जो दुःख में तड़पती है। उस का हृदय नम्र होता है वह अपने हृदय में करुणा की सुगन्धि द्वारा जगत् के सभी प्राणियों की—नर, नारी, पशु, पक्षी, पत्ते, फूल, पर्वत, नदी, चट्टानें और समुद्र—सेवा करने का इच्छुक है।

विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र की नई खोजों ने आधुनिक सभ्यता के मूल्यों में भ्रान्ति उत्पन्न की है। मानव समस्या का भौतिक समाधान ढूंढ़ता है जो मूलत: मनोवैज्ञानिक है। उस के विचारानुसार शक्ति-युक्त विज्ञान सब समस्याओं का समाधान ढूंढ़ सकता है किन्तु वह भूल जाता है कि चाहे विज्ञान गति की समस्या का समाधान दे पाए, परन्तु दिशा के सम्बन्ध में कोई मार्ग-प्रदर्शन नहीं कर सकता। विज्ञान सुविधा दे सकता है किन्तु प्रसन्नता नहीं दे सकता; क्योंकि प्रसन्नता वस्तुओं की प्राप्ति में नहीं अपितु मन को वशीभूत करने में है। आधुनिक युग ने भौतिक प्रगति अवश्य की है लेकिन मन को जीतने का रहस्य नहीं सीखा है। मन पर विजय-प्राप्ति के बिना भौतिक उन्नति केवल व्यर्थ ही नहीं अपितु निश्चयात्मक ढङ्ग से भयावह है। मानव भले ही ज्ञान-युक्त हो किन्तु विवेकहीन है। जब तक वह ज्ञान को विवेक में परिणत नहीं करता, उस का भविष्य अन्धकारमय है। दूसरे शब्दों में आज के मानव को जीवन का युक्तियुक्त एवं वास्तविक दर्शन जानना है।

श्रीकृष्ण ने अपने सन्देश में इसी यथार्थ दर्शन को कहा है। यह सन्देश जीवन का रास्ता बतलाता है जो आधुनिक मानव को जीवन की समस्याओं के समाधान ढूंढ़ने में सहायता देता है। श्रीकृष्ण केवल सम्यक् कर्म ही नहीं अपितु सम्यग् दृष्टि भी बतलाते हैं। सम्यग् दृष्टि मानव के मन की वह अवस्था है जिसमें मानव द्वन्द्व-हीन विचारों की भ्रान्ति से रहित सम्पूर्ण ध्यानस्थ होने की योग्यता रखता है। श्रीकृष्ण का सन्देश क्रमश: अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाता है, इच्छाओं से बद्ध मन से बुद्धि के प्रकाश से प्रकाशित मन की ओर ले जाता है। दूसरे शब्दों में यह सन्देश मानव के मन को अतिमन की ओर ले जाता है।

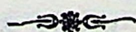
संसार में रह कर सम्यक् प्रकार से स्वकर्त्तव्य कर लो—श्रीकृष्ण का मुख्यतया यही जीवनदर्शन है। मनुष्यों और पदार्थों का सम्यग् दर्शन होने के लिए आवश्यक है कि मानव मन के सत्व, रजस् और तमस् से परे हो जाए। योग कर्म में कुशलता है। सन्तुलित मन से किए हुए कर्म ही पूर्ण होते हैं।

आधुनिक मानव अनेक आन्तरिक संघर्षों से घिरा हुआ है और इसी संघर्ष के कारण उस का मनोवैज्ञानिक जीवन नितान्त खण्डित हुआ है। भीतर की अनेकता ने वाह्य दु:ख को जन्म दिया है। आन्तरिक ऐक्य को पाने का मार्ग दर्शाने के लिए श्रीकृष्ण से उत्तम गुरु नहीं मिल सकता। युक्त-जीव की उत्पत्ति ही श्रीकृष्ण के सन्देश का मुख्य उद्देश है। जीवेच्छा और परमसत्ता की इच्छा में अभिन्नता एवं तत्फल-स्वरूप आन्तरिक संघर्ष की समाप्ति और पूर्ण ऐक्य की अवस्था की प्राप्ति—श्रीकृष्ण की जीव से अपेक्षाएं हैं।

गीता के संदेश का आधुनिक मानव पर अत्यधिक प्रभाव है। गीता द्वारा श्रीकृष्ण मानव-मन की उलझनों से अतिमानस के स्वातन्त्र्य की प्राप्ति का मार्ग बतलाते हैं। गीता के अनुसार वास्तविक प्रसन्नता की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक उत्थान अपेक्षित है।

परम सत्ता अथवा सत्य अथवा किसी भी नाम से पुकारें—एक है। उसी एक के प्रति अपने आप को पूर्णतया समर्पित करना जीव का उद्देश्य है। समर्पण से कृपाप्राप्ति और कृपाप्राप्ति से परम शान्ति तथा परम धाम की प्राप्ति होती है। अपने कर्त्तव्य के पालन पर श्रीकृष्ण ने अत्यधिक जोर दिया है। मानव अपने कर्त्तव्य को निभाये और किसी से किसी प्रकार की आशा न रखे। परम सत्ता को समर्पित होने से मानव चिन्ताओं के भार से मुक्त हो जाता है। मन परम शक्ति के ध्यान से पूर्ण हो कर जीव जो भी कार्य करे, परमेश्वर को अर्पित करे—इस प्रकार के अभ्यास से मानव अपने परम इष्ट के साथ एकाकार हो जाता है। श्रीकृष्ण के कथनानुसार जो लोग परम सत्य की अनन्य चिन्ता करते हैं, उन के योगक्षेम का भार भी वही वहन करता है।

आज का संसार इतिहास में एक चरम सङ्कट की घड़ी से गुजर रहा है। पुरातन जगत् विचारों, संस्थानों और सम्मतियों समेत समाप्तप्राय है, अनागत परिस्थितियों के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। स्थिर सभ्यता की उत्पत्ति आधुनिक युग की चाह है। विश्व-सभ्यता के लिए मानवता का सामूहिक विवेक इच्छित है। इस क्षेत्र में अधिकतम योगदान श्रीकृष्ण, बुद्ध, ईसा जैसे आध्यात्मिक महारथियों ने दिया है। उच्चाकांक्षाओं का आधुनिक संसार महाभारत कालीन भारत से मिलता जुलता सा है जब श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का संदेश दिया था। आज के संघर्ष और भ्रान्ति के दिनों में स्वतन्त्रता और शान्ति का मार्ग बतलाने के लिए श्रीकृष्ण द्वारा बतलाई गई सार्वभौम तर्कयुक्त और बुद्धिगम्य आध्यात्मिक उपयोगी है। यह परमात्मा की ओर से मानव को सन्देश है—शाश्वत, पुरातन और अनन्त। जीवन में अनेक ऐसी समस्याएं आती हैं जो वीर और धीर मानव के विवेक को भी चलायमान करती है ऐसे क्षणों में श्रीकृष्ण का संदेश लाभदायक है प्रेरणोत्पादक है और है जीवन में आवश्यक साफल्यदायक।



क्रान्तिकारी कृष्ण

डॉ० अनन्त राम शास्त्री

किसी भी महापुरुष या व्यक्तिविशेष के विषय में चर्चा करते समय हमें उस के जन्मकाल की परिस्थितियों पर विशेष ध्यान रखना पड़ता है जिन से वह हमारे सामने एक दिव्य रूप में उपस्थित होता है। वस्तुत: प्राणी जिस समाज में जन्म लेता है उस से प्रभावित हुए विना कैसे रह सकता है।

इसी आधार पर श्रीकृष्ण के जीवन पर प्रकाश डालते समय हमें कुछ पीछे जाना पड़ेगा, जबकि उन का जन्म कारागार में हुआ था। उस दिन भादों की अष्टमी और रोहिणी नक्षत्र था, आधी रात तथा चारों ओर घना अन्धेरा फैला हुआ था। मथुरा के सिंहासन पर अपने पिता उग्रसेन को कारागार में डाल जो कंस राजा बना बैठा था, उस के अन्याय-अत्याचार से जो संसार में अन्धेर मच रहा था, मानो वही अन्धकार के रूप में इस समय मूर्तिमान् हो उठा था। कंस के कारागार को सशस्त्र-भयंकर आकार के पहरी घेरे थे। कारागार के द्वार बन्द थे और उस के भीतर हथकड़ी एवं बेड़ी से जकड़े दो महाप्राण बन्दी थे। वे थे श्री वसुदेव और देवकी। एक चमत्कार सा हुआ। अन्धेरा फटा और चन्द्रोदय हुआ तथा वसुदेव-देवकी के सामने आनन्दकन्द श्रीकृष्ण चन्द्र प्रकट हुए।

माता-पिता—जो पूरे विश्व के सम्मान्य माता-पिता हैं, वे अपने पुत्र का जन्मोत्सव भी नहीं मना सके। खुल कर उसे छाती से लगाने का भी अवसर नहीं था। "कंस आता ही होगा, हत्यारा कंस समाचार पाते ही दौड़ा आएगा।" इस भय और आशंका से हृदय धक्-धक् कर रहा था। उन के आनन्द का वह क्षण भी व्याकुलता का क्षण हो गया था।

कृष्ण को गोदी में लिए वसुदेव जी कारागार से निकलने को हुए, उन के हाथ-पैर की जंजीरें अपने-आप खुल कर गिर पड़ीं। द्वार के ताले-सांकले किसी अज्ञात

ने खोल दिए और सभी प्रहरियों को गाढ़ी नींद ने दबोच लिया, जिससे इधर-उधर लुढ़के वे खर्राटे भर रहे थे।

वसुदेव जी एक सूप में उस नवजात शिशु को लिए कारागार से निकले। 'कहीं कोई आ न जाए, कोई देख न ले।' उन्हें तो किसी प्रकार गोकुल पहुँचना था। अन्धेरी रात, घने बादल, बर्षा हो रही थी और बिजली चमक रही थी, पर वसुदेव जी को तो भादों की बढ़ी, उमड़ती-घुमड़ती, गर्जन करती यमुना की ओर भी ध्यान देने का अवकाश नहीं था। उन्हें न मार्ग दीखता था, न घाट। उन्हें तो बस गोकुल ही गोकुल दीखता था।

गोकुल में सब सोए हुए थे और नन्दभवन के द्वार खुले पड़े थे। वसुदेव जी भवन में प्रविष्ट हो सीधे प्रसूतिगृह में गए और धीरे से सोई यशोधा के पास शिशु को रख नवजाता कन्या को उठा लिया तथा जैसे आये थे, वैसे ही लौट चले।

वसुदेव जी जैसे-जैसे कारागार के द्वारों में प्रवेश करते गए, द्वार अपने आप बन्द होते चले गए। अपने स्थान पर पहुँच कन्या देवकी की गोद में धर दी और उन के हाथ पांओं फिर बेड़ियों से जकड़े गए। वह कन्या, जो अभी तक गुम-सुम पड़ी थी, पूरे वेग से रोने लगी गई।

कंस को अपनी बहिन देवकी के विवाह के दिन ही अज्ञात वाणी ने कहा था कि इस का आठवां गर्भ तुझे मार देगा। वह तो तभी बहिन का सिर काट देने के लिए खड्ग खींच चुका था, पर वसुदेव जी ने वचन दिया कि मैं इस के सभी बच्चे जनते ही तुम्हें दे दिया करूंगा। इस बात पर विश्वास कर देवकी को छोड़ तो दिया गया, पर दोनों बहिन-बहनोई को कारागार से डाल दिया गया। तभी से उसे लगता था कि मेरा मारने वाला तो कहीं आ तो नहीं गया। विरोध करने पर उसने अपने पिता उग्रसेन को भी कारागार में बन्द कर दिया। स्वयं नरेश बना और असुर सहायक एकत्रित किए। देवकी के पुत्र जैसे २ होते गए, उन्हें पत्थर पर पटक मारता गया। इस प्रकार छः पुत्र उसने मार दिए। ऐसा कहा जाता है कि देवकी का सातवां गर्भ गिर गया, पर किसी को क्या पता कि योगमाया ने सातवें गर्भ को देवकी के गर्भाशय से खींच कंस के भय से नन्द के घर टिकी वसुदेव जी की ही पत्नी रोहिणी के गर्भाशय में पहुंचा दिया था, जो अब तक एक वर्ष का हो चुका था। अब तो आठवें गर्भ का समय जान कर कारागार में सैनिक बढ़ा दिए गए और कंस स्वयं उस शिशु के जन्म की प्रतीक्षा करने लगा।

देवकी के गर्भ का समय पूरा हो गया। कंस को न भूख है, न प्यास। वह दो क्षण भी सो नहीं पाता। अपने शत्रु की प्रतीक्षा—बस एक ही बात रही।

इतने में प्रहरियों ने दौड़ कर समाचार दिया कि देवकी को कोई सन्तान हुई है। कंस नंगे सिर, खुले केश, गिरता-पड़ता तलवार लिये दौड़ा। पुत्र है या कन्या, इस से निर्दयी कंस को क्या ? उस ने रोती-बिलखती बहिन की गोदी से कन्या को पैर से पकड़ कर पत्थर पर पटकने के लिए घुमाया ही था कि आवाज़ सुनाई दी कि मूर्ख ! तेरा मारने वाला कहीं प्रकट हो गया है। कंस देखता ही रह गया, वह नन्ही बालिका छिटक कर ऊपर उड़ गई और अदृश्य हो गई।

'तेरा मारने वाला पैदा हो गया है' यह आवाज़ बार बार कानों में गूंजने लगी और कंस ने सुबह ही अपने सहायक असुरों से मन्त्रणा की कि दस दिन से छोटे और दस दिन से बड़े जितने भी नवजात शिशु हुए हों, वे विना जाति, देश और कुल का विचार किए मार दिए जाएं। कंस और उसके सहायकों की मन्त्रणा तो उन के अनुरूप होनी ही थी। स्वभाव से हिंसाप्रिय असुर इस कार्य पर नियुक्त हो गए।

कंस ने नवजात शिशुओं का वध करने के लिए जिन असुरों को नियुक्त किया था, उन में पूतना सब से प्रधान थी। यह राक्षसी इच्छानुसार रूप बना कर अबोध शिशुओं का वध कर घूमा करती थी। श्रीकृष्ण के जन्म के पांचवें दिन अष्ठी देवी का पूजन कर छठे दिन कुछ अन्धेरा रहते ही नन्द ने छकड़े जोड़ दिए और गोकुल-रक्षा में तरुण गोपों को नियुक्त कर प्रमुख गोपों के साथ कंस को वार्षिक कर देने मथुरा को चले थे, उसी दिन कुछ दिन चढ़ने पर पूतना घूमती हुई सहसा व्रज में पहुंची और आसुरी माया से झूलना झूलते शिशु कृष्ण को उठा हलाहल विष भरे अपने स्तनों को दूध पिलाने के बहाने उन के मुख में दे दिया और नन्हे कृष्ण दोनों हाथों से पूतना का वक्ष पकड़ दूध पीने लगे। बस क्या था राक्षसी के मर्म-स्थान कटने लगे, वह रोई, चीखी, हाथ-पैर पटकती भागी। शिशु तो उसके छुड़ाए छूटने से रहा। व्यथा के मारे तड़फड़ाती अपने वास्तविक रूप में गोकुल से दूर जाकर गिरी और समाप्त हो गई।

शिशु से कृष्ण कुमार हुए और कंस के दिन-प्रतिदिन बढ़ते ही चले जाते अत्याचारों को देख बालक ही बालक सब मिल देश का उद्धार करने के लिए, खेल-खेल में पृथ्वी का अति दारुण संकट हरने के लिए वे अपनी टोली बना-बना इधर-उधर घूमते-फिरते थे। मानवता को अभय बनाना ही उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बनाया और इसकी पूर्ति के लिए सभी मित्रों ने अपना नेता कृष्ण को चुना, जिन्होंने सीधे ही 'क्रान्ति' का नारा लगाया।

उन दिनों जनता कंस से इतनी त्रस्त थी कि सभी सर्वसाधारण गृहस्थी अपने

लिए कुछ न रख सभी कुछ कंस की भेंट कर दिया करता था। और तो और, दूध-दही-माखन तक सुबह-सवेरे सिर पर मटकियें उठाए अत्याचारी कंस वा उस के मुंह चढ़े असुरों की भेंट कर दिया जाता था, घर के बच्चे इन सब के लिए तरसते भले ही रहें। ऐसी परिस्थितियों में कृष्ण के नेतृत्व से सुसंगठित हो कर ग्वाल-वालों ने घर-घर जा कर लोगों को समझाना आरम्भ किया कि वे घर की खाने-पीने की वस्तुएं अपने बच्चों के मुंह से छीन कर दूसरों की भेंट डर से न किया करें पर वे बड़े-बूढ़े अपना सर्वनाश स्वयं अपनी आंखों से कैसे देखते ? चाहते हुए भी भय से वे दूध-दही-माखन एवं अन्य खाद्य पदार्थ भी पहिले की तरह प्रतिदिन भेजते रहे। प्रायः ये सभी पदार्थ उस समय कर के रूप में ही लिए जाते थे, पर कर को जनता-जनार्दन की भलाई के लिए खर्च नहीं किया जाता था, सब कुछ आसुरी इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही था।

क्रान्तिदूत श्रीकृष्ण भला कब हिम्मत हारने वाले थे। उन्होंने ग्वाल-बालों की छोटी-छोटी टोलियां बना कर धरनों द्वारा उन रास्तों की नाकाबन्दी करनी शुरू कर दी, जिन से ग्वालिनें सिर पर दूध-दही-माखन की मटकियें उठाए कर देने जाया करती थीं। पहला कदम शिष्टतापूर्वक प्रार्थना करना ही हुआ करता था कि वे ये दूध-दही-माखन अपने बड़े-बूढ़ों और बच्चों को खिलाएं तथा स्वयं खाएं, अपने से बचे तो दूसरों को दें, जिन के पास पशुधन नहीं है, पर भय से कंस व उस के सहचरों को भेंट मत करें, पर जब वे इस प्रार्थना की ओर ध्यान न दे आगे बढ़ने का प्रयास करतीं तो कृष्ण के निर्देश से दूध-दही-माखन लूट लिया जाता, मटकियें तोड़ दी जातीं और जितना कुछ खाया जाता, वे खाते, बचने पर दूसरों को दे देते। कुछ समय ऐसा क्रम चलता रहा, पर उन्होंने जब देखा कि ये लोग मानने वाले नहीं, तो अपने नेता के नेतृत्व में ग्वालों ने घरों पर छापे मारने शुरू कर दिए और दूध-दही-माखन लूटना शुरू कर दिया। फलस्वरूप इसके लिए कृष्ण को समय-समय पर बड़ी यातनायें भी सहनी पड़ीं, पर वे क्रान्ति का बिगुल बजा चुके थे, उसका अन्त मूल केन्द्र-विन्दु कंस पर ही होना था।

साथ ही सामाजिक क्रान्ति की ओर भी अपने मित्रों को प्रवृत्त करने के लिए आप ने मार्गदर्शन किया। मित्र का वास्तविक कर्त्तव्य केवल स्वार्थरहित प्रेम का रखना और प्रकट करना ही नहीं है, अपितु अपने मित्र को शिक्षा देना, उसे सचेत और सतर्क करना, सान्त्वना देना तथा आवश्यकता पड़ने पर उस के हितार्थ संकोच रहित बलपूर्वक आदेश देना भी है। यही कारण है कि ऐसा कहा जाता है कि वेद तो राजा की भांति आज्ञा देते हैं—'प्रभुसम्मत', स्मृतियां सखा की भांति सलाह

देती हैं—'सुहृत्सम्मत', परन्तु काव्य मुग्ध करके सौजन्य और दिव्यता की शिक्षा देते हैं - 'कान्तासम्मत'।

गोकुल की बालिकाएं यमुना में अरुणोदय के पूर्व स्नान करने के लिए अपने वस्त्र उतार कर तट पर रख दिया करती थीं और जल में प्रविष्ठ हो जाती थीं, जोकि अनुचित था, उन्हें वस्त्र धारण किए ही स्नान करना चाहिए था। कृष्ण ने उन्हें कर्त्तव्य का पाठ पढ़ाया और उन की पश्चात्तापपूर्ण चित्तवृत्ति को देख कर उनके अपराध को क्षमा करके उन के वस्त्र लौटा दिए।

दूसरी ओर गोपबालों को एक वृक्ष का दृष्टान्त देकर कहा - मित्रो! देखो, ये वृक्ष कितने भागवान् हैं। इन का सारा जीवन केवल दूसरों की भलाई करने के लिए हो है। ये स्वयं तो हवा के झोंके, वर्षा, धूप और पाला—सब कुछ सहते हैं, परन्तु हमारी उन से रक्षा करते हैं। इन वृक्षों से सभी को कुछ न कुछ मिल ही जाता है। ये अपने पत्ते, फूल, फल, छाया, जड़, छाल, लकड़ी, गन्ध, गोंद, राख, कोयला, अंकुर और कोंपलों से भी लोगों की कामना पूर्ण करते हैं।

इस प्रकार श्री कृष्ण ने सभी युगों और देशों के युवकों का प्रतिनिधित्व करने वाले ग्वालबालों को परोपकार और जन-सेवा अथवा लोकसंग्रहवाद की महिमा का गान करते हुए अन्त में कहा है :—

रणवज्जन्मसाकल्यं देहिनामिह देहिषु।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय एवाचरेत् सदा॥

(श्रीमद्भाग०—१०/२२/३५)

संसार में प्राणी तो बहुत हैं, परन्तु उन के जीवन की यथार्थ सफलता इतने में ही है कि जहां तक हो सके अपने धन से, विवेक-विचार से, वाणी से और प्राणों से भी ऐसे आचरण सदा किए जाएं, जिन से दूसरों का कल्याण हो।

इस प्रकार जनजीवन के मूर्तरूप और सफल राष्ट्र के शुभचेता राष्ट्रनायक श्रीकृष्ण ने बालकपन में ही सर्वप्रथम लोकमाता गौ का परित्राण किया। ग्वाले के रूप में बच्चों-युवकों का पेट भर जनता को अमृत पान कराया और दही-दूध की मटकियें भर-भर कर जीवन का स्रोत बहाया। अपने देश को बलशाली बनाने के लिये जन-जन को नीरोग बनाया। उन दिनों सभी लोग जलकष्ट भोगते थे, क्योंकि विषधर के विष से यमुना का जल विष के समान ही हो गया था। वह महावली बालक कृष्ण लोकोपकार के लिए यमुना में कूद गया और कालिय-मद-मर्दन किया, जिससे यमुना का जल निर्मल हुआ। एक बार आकस्मिक वन में आग लग गई, जिस से बाल मित्र गौओं के संग भगे। गो-घास-वृक्ष नष्ट हुए, ग्वालों का मण्डल

घिर गया। इस जनसंकट को देख श्रीकृष्ण जलती ज्वाला में कूद पड़े और दावानल को शान्त किया। कृष्ण का बल निर्बल का बल था, वह जनसेवा का पावन व्रत था और मानव की रक्षा में व्यस्त था। उस बालरूप जननेता से सब अत्याचारी घबरा उठे। फलत: विभिन्न रूपों में छल करने के लिए सब बारी-बारी से आए, पर वह टस से मस न हुआ। खेल-खेल में सभी दानवदल उस ने नष्ट किया। जिस ने भी जनता को कष्ट दिया, उसे उस ने मौत के घाट उतार दिया। क्रान्तिकारी कृष्ण ने कुल का मोह छोड़ जन-जीवन से अपना नाता जोड़ लिया।

जनता से कररूप में कंस को जो कुछ मिलता था, वह बन्द हो गया, उसका जो भी बड़े सा बड़ा योद्धा इस क्रान्ति की चिनगारी को मूलत: नष्टभ्रष्ट करने के लिए आया, वह स्वयं स्वाहा हो गया। इन सब घटनाओं से क्षुब्ध हो कंस ने मथुरा में चतुर्दशी को धनुर्यज्ञ एवं मल्लक्रीड़ा का षड्यन्त्र रचा। अक्रूर द्वारा व्रजराज श्रीकृष्ण को गोपों के साथ आमन्त्रित किया गया। फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशी को भैय्या बलराम और ग्वालों के साथ श्रीकृष्ण ने मथुरा को प्रस्थान किया।

कंस का पूज्य धनुष उस के कुल में परम्परा से पूजित होता आ रहा था। बड़े भारी भवन में वह ऊँचे सिंहासन पर सजाया हुआ रक्खा था। सशस्त्र सैनिक सावधानी से उस भवन की रक्षा कर रहे थे। श्री कृष्ण अपनी पूरी मण्डली के साथ सीधे उसी भवन में पहुंच गए। जब तक रक्षक सैनिक सावधान हों, तब तक तो वे शीघ्रता से धनुष के पास पहुँच गए। डोरी चढ़ाई और खींच कर बीच से तोड़ दिया।

'पकड़ो, पकड़ो,' इस प्रकार चिल्लाते सब श्रीकृष्ण पर टूट पड़े। अबतक श्रीकृष्ण ने विना शास्त्र उठाए ही सब असुर मारे थे, आज मथुरा में पहली बार धनुष का एक खण्ड अपने हाथ में लिया और दूसरा श्री बलराम जी ने। किसी का सिर फूटा तो किसी का हाथ टूटा, वे रक्त में सने घायल हो कर भागे। कंस ने एक पूरी सेना भेज दी, पर वह थोड़ी देर भी न टिक सकी।

दूसरे दिन राम-श्याम सखाओं सहित रंगशाला के पास पहुँचे, पर द्वार पर सुरापान से उन्मत्त गजराज कुवलयापीड़ से भेंट हो गई। अब एक ओर से बलराम जी और दूसरी ओर से श्रीकृष्ण हाथी की सूंड और पूंछ पकड़ कर लगे खींचने कि कुवलयापीड़ धड़ाम से भूमि पर गिर पड़ा। मस्तक पर पैर रख उस के दोनों दान्त उखाड़ लिए, जिस से छटपटा कर उसने वहीं अपने प्राण छोड़ दिए और

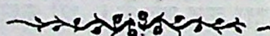
दोनों भाई एक-एक हाथीदान्त कन्धे पर रखे रंगशाला में प्रविष्ट हुए तथा चाणूरमुष्टिक को देखते ही देखते धराशायी किया।

कंस क्रोध के मारे मञ्च पर खड़ा हो लगा बकवाद करने तो वे कूद कर मंच पर पहुँच गए। कंस ने तलवार उठाली और पैंतरे बदलने लगा, पर कृष्ण ने उसका मुकुट फेंक दिया और केशों से पकड़ उसे मञ्च से नीचे पटक दिया तथा पलक झपकते ही उस के उपर कूद पड़े। कंस मर गया और कृष्ण लगे घसीटने भूमि में उस की देह को।

दुन्दुभि बज उठी, कृष्ण की जय-जयकार से आकाश गूंज उठा। कारागार के द्वार खुल गए। उग्रसेन, वसुदेव और देवकी की बेड़ियों के साथ सब की बेड़ियां कट गईं।

श्रीकृष्ण ने राजसमाज जुटाया, सभासद् एकत्र हुए और तब सब के बीच आप ने वृद्ध महाराज उग्रसेन से प्रार्थना की—महाराज! सिंहासन पर विराजें, मैं सेवक बन कर आप के पास सदा उपस्थित रहूंगा।

तदनन्तर कंस द्वारा कारागार में बन्द सोलह हज़ार राजकुमारियों की समस्या श्रीकृष्ण के आगे आ खड़ी हुई, जिन्हें उन के माता-पिताओं ने अपनाने से इन्कार कर दिया था, अब सिवाय इस के कृष्ण के आगे कोई मार्ग नहीं था कि वे राष्ट्र की सम्पत्ति बन कर रहें और राज्य ही आजीवन उन के भरण-पोषण का भार वहन करे।



श्री कृष्ण का कर्मयोग

—डॉ० वेद कुमारी

भारतवर्ष के ही नहीं अपितु समस्त विश्व के मानवसमुदाय के विचारों को जिन महापुरुषों ने प्रभावित किया है उन में योगिराज श्री कृष्ण का प्रमुख स्थान है। अपने समय के निरंकुश अत्याचारी शासकों से टक्कर लेने वाले उस कर्मयोगी ने स्वयं अपने कर्ममय जीवन को आदर्शरूप में प्रस्तुत किया है। वृन्दावन की गलियों में उसने अपनी बाललीलाओं से ग्वालबालों को संगठित किया, वन-उपवनों में मल्लविद्या का अभ्यास किया, यमुना के कछारों में संगीत की परम्परा को जीवित किया और गांव-गांव में गोवंश की वृद्धि का रहस्य प्रकट किया। कृष्ण स्वयं यादव वंश के अन्धकवृष्णि गणराज्य के सदस्य थे तथा लोकतन्त्र की परम्पराओं में पले थे। उनका युवा हृदय उन उच्छृंखल राजाओं की निरंकुश सत्ता को सहन नहीं कर सका जो लोकपरीय परम्पराओं का हनन कर रहे थे। मथुरा में कंस ने अपने पिता को ही जेल में बन्द करके प्रजा पर अत्याचार करना शुरू किया हुआ था। मगध में जरासंध के अन्याय तले अनेक राजा दबे हुए थे। चेदि में शिशुपाल सब को कुचल रहा था। प्राग्ज्योतिष में भौम नरक ने अनेक कन्याओं को बन्दो बना रखा था। श्री कृष्ण ने इन सब से टक्कर ली। पांड्यराज, शाल्वराज, कलिंगराज, काशिराज सभी से लोहा लिया। कहीं भी कृष्ण जी ने स्वयं राज्यसत्ता को नहीं हथियाया। इस से स्पष्ट है कि उन राजाओं को पराजित करने में उन का कोई अपना स्वार्थ नहीं था। निरंकुश अत्याचारों का दमन करना ही उन का ध्येय था। उन्होंने स्वयं निरन्तर निष्काम कर्म किया और दूसरों को भी कर्म करने की प्रेरणा दी। उन के महान् ग्रन्थ भगवद्गीता में कर्मयोग की जैसी सुन्दर व्याख्या है वैसी अन्य किसी दर्शनग्रन्थ या नीतिग्रन्थ में मिलनी कठिन है। आज के युग में भी जब कभी मानव कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, शुभ-अशुभ, हित-अहित के निर्णय में शंका होने से उलझन में पड़ता है, जब कभी उस के जीवन में विपरीत परिस्थितियों से जूझने के लिए

कठिन प्रसंग उपस्थित होते हैं और उस की आत्मशक्ति साथ नहीं देती तो अर्जुन की तरह घबराये हुए उस को गीता धैर्य बंधाती है और उस की भ्रान्तियों को दूर कर धर्मनिष्ठ कर्त्तव्यपालन में सहायता देती है।

युद्ध को टालने के सभी उपाय विफल हो जाने के उपरान्त जब पाण्डव और कौरव युद्ध के लिए तैयार खड़े थे तभी अर्जुन सामने उपस्थित गुरुजनों और सम्बन्धियों को देख कर विचलित हो उठा था। उस का मोह-ममत्व जाग उठा था। गहरी उलझन में फंसा वह अपने हृदयक्षेत्र में हो रहे धर्म-अधर्म के युद्ध को देखने लगा था जिस में शौर्य से बढ़ कर आत्मत्याग की भावना बलवती हो उठी थी। उसे अपना क्षात्रधर्म भी निस्सार प्रतीत होने लगा था। यदि अपराधी को दण्ड देना धर्म है तो उस से बढ़ कर ऊंचा धर्म उसे क्षमा कर देना होता है! और फिर युद्ध की विभीषिका तो राष्ट्र के समस्त जीवन को अस्तव्यस्त कर देगी। एक पाप को नष्ट करने के लिए मैं दूसरा महापाप क्यों करूं? इस विचिकित्सा ने अर्जुन की मनः स्थिति को डावांडोल कर दिया था। एक ओर उस का क्षत्रिय धर्म उसे अन्याय का सामना करने के लिए युद्ध में प्रवृत्त कर रहा था दूसरी ओर उस की पितृभक्ति, गुरुभक्ति और मित्रप्रेम उसे युद्ध से विमुख कर रहे थे। किंकर्तव्य-विमूढ़ हो कर वह सोचने लगा "अपने पूज्य गुरुजनों की और प्रेम के पात्र भाई-बन्धुओं की हत्या करके उनके रक्त से सने हुए राज्य को लेकर मैं क्या करूंगा? ऐसे राज्य से भीख मांग कर जीवन-निर्वाह करना श्रेयस्कर है। मुझे न विजय चाहिये न राज्य का सुख।":

गुरून् हत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्।
गीता २.५

इस प्रकार कर्तव्यपथ से विचलित हुए अर्जुन को श्रीकृष्ण ने कर्मयोग का उपदेश देकर कर्तव्यपालन की ओर प्रेरित किया। उन के बताए कर्मयोग का सार गीता के इन शब्दों में आ गया है:—

योग: कर्मसु कौशलम्। गीता २.५०

कर्म को कुशलता पूर्वक करना ही योग है।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' कर्म करने पर ही तुम्हारा अधिकार है, कर्मफल की चिन्ता करना व्यर्थ है। गीता में ज्ञान और भक्ति की चर्चा भी

हुई है परन्तु मुख्य बल कर्मयोग पर ही है। श्रीकृष्ण अर्जुन को निवृत्तिमार्ग की ओर ले जाकर उन्हें कर्तव्यभ्रष्ट नहीं करना चाहते थे। उन का उद्देश्य तो अन्याय के विरुद्ध लड़ने के लिए अर्जुन को तैयार करना था। उनका कहना था कि हे अर्जुन! अपने धर्म की ओर देखो! तुम्हें बिल्कुल भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। क्षत्रिय के लिए धर्मानुकूल युद्ध से बढ़ कर और कोई अधिक कल्याण-कारी कर्म नहीं है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ।।

गीता २. ३१

श्रीकृष्ण ने कर्म के पक्ष में अनेक युक्तियां देते हुए कहा है कि कर्म के विना तो मनुष्य क्षण भर के लिए भी रह नहीं सकता। खाना-पीना, सोना-जागना, उठना-बैठना, खेलना-कूदना, हंसना-रोना, देखना-सुनना, लिखना-बोलना, देना-लेना, लड़ना-झगड़ना, पढ़ाना, ध्यान करना, दान देना, यज्ञ करना, खेती, व्यापार, धंधा करना, इच्छा करना यहां तक कि सांस लेना – ये सब भी तो कर्म ही हैं। इन में से कुछ शरीर से किये जाते हैं कुछ मन से, परन्तु हैं तो कर्म ही। जब कर्म के विना मानव की शरीरयात्रा ही नहीं चल सकती तो अकर्म का ढोंग क्यों किया जाए? इसी लिए गीता में कर्म को अकर्म से अधिक महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है। यहां यह आशंका उठती है कि जब सभी कर्म में लगे हैं, कोई कर्म किए विना रह नहीं सकता तो श्रीकृष्ण ही कर्म करने को कह कर नयी बात क्या कर रहे हैं? तथ्य यह है कि श्रीकृष्ण ने कर्म करने की पद्धति सिखाई है। किसी भी कर्म के करने के कई प्रकार हो सकते हैं। धन कमाना एक कर्म है और इस कर्म को करने के कई साधन हैं जैसे मेहनत-मज़दूरी करना, नेकनीयती से व्यापार करना या कहीं नौकरी करना, धोखा-धड़ी करना, भीख मांगना, चोरी करना आदि। कौन सा मार्ग अच्छा है, कौन सा बुरा? जिसे हम अच्छा मान रहे हैं वह अच्छा क्यों है? और जिसे हम बुरा कहते हैं वह बुरा क्यों है? इस अच्छाई-बुराई का आधार क्या है? इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण ने यज्ञरूप कर्म की धारणा प्रस्तुत की है। यज्ञ वह है जिस में कुछ त्याग किया जाता है। कर्मरूपी यज्ञ में कर्मफल का त्याग किया जाता है। कर्मफल की आसक्ति से मुक्त होकर किया गया कर्म बन्धन का कारण नहीं बनता तथा विशेष कुशलता से सम्पन्न हो पाता है। फलाशा तो कई बार कर्म के उचित रूप से सम्पन्न होने में बाधा उपस्थित कर देती है। परीक्षा-भवन में बैठा विद्यार्थी यदि प्रश्नों के उत्तर लिखते हुए यही सोचता रहे कि मुझे कितने अंक प्राप्त होंगे? मैं उत्तीर्ण हो पाऊंगा या नहीं? प्रथम श्रेणी

प्राप्त कर पाऊंगा या नहीं ? तो उस विद्यार्थी का ध्यान उत्तर देने से हटने के कारण उत्तर ठीक प्रकार से नहीं दिये जा सकेंगे जिस का परिणाम कष्टकर हो सकता है। हम प्रायः देखते हैं कि जो डाक्टर प्रतिदिन कर्तव्यबुद्धि से अनेक रोगियों की चिकित्सा करता है तथा उनके रोग दूर करने में सहायक होता है वही डाक्टर अपने बच्चे के अधिक रुग्ण होने पर प्रायः दूसरे डाक्टरों की शरण लेता दिखाई देता है, क्योंकि ममत्वयुक्त फलाशा उसे ठीक प्रकार से सोचने नहीं देती, उसे चिन्ता और घबराहट में डाल कर किंकर्तव्यविमूढ़ बना देती है। परन्तु यदि वह वैराग्यबुद्धि से युक्त होकर लाभ-हानि सुख-दुःख को एक सा मान कर कर्तव्य कर्म करना सीख चुका है तो उस संकट की घड़ी में भी उस की बुद्धि विचलित नहीं होती।

कर्म के विषय में श्रीकृष्ण ने एक अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त स्वधर्म का प्रस्तुत किया है। जिस का जो धर्म है, कर्त्तव्य है, उसे वह ही करना चाहिए। अपना कर्त्तव्यकर्म छोड़ कर दूसरे का कर्म करना उचित नहीं होता। किसी लक्ष्य पर पहुँचने के कई रास्ते हो सकते हैं पर चलना किसी एक मार्ग से ही होगा तभी लक्ष्य पर पहुँचा जा सकता है। जो मनुष्य कभी एक रास्ते पर चलता है, फिर उसे छोड़ दूसरा रास्ता पकड़ता है, उस से भी पीछे मुड़ तीसरा मार्ग बदलता है, वह अपने लक्ष्य तक कैसे पहुँच सकता है ? हर मनुष्य में उस के स्वभाव गुण और परिस्थिति के अनुरूप कर्म करने की योग्यता होती है, वही उस का अधिकार है। इस अधिकार के अनुसार प्राप्त हुए कर्मों को यथाशक्ति करना स्वधर्म है जिसे करने से व्यक्ति तथा समाज दोनों का कल्याण होता है।

'स्वधर्मे निधन श्रेय : परधर्मो भयावहः' का यही भाव है कि जीवन के जिस क्षेत्र में प्राणी स्थित है उसे करने में प्राणों की बाजी भी लगा देनी श्रेष्ठ है। अध्यापक का धर्म ठीक प्रकार से अध्यापन-कार्य करना है। विद्यार्थी का धर्म दत्तचित हो कर ध्यान करना है। माता-पिता का धर्म ठीक प्रकार से बच्चों का पालन-पोषण करना है। डॉक्टर का धर्म रोगी की उचित चिकित्सा करना है। इस प्रकार यदि समय का प्रत्येक घटक अपने अपने धर्म का कर्तव्य-बुद्धि से पालन करता है, तो समाज में सुख शान्ति का साम्राज्य रहता है। जब कुछ लोग ममत्व या द्वेष के कारण कर्त्तव्य को छोड़ कर अकर्तव्य में लगते हैं, तभी अशान्ति होती है। गुण, स्वभाव और परिस्थिति से प्राप्त हुए कर्म को कर्तव्यभाव से विना फल की चिन्ता किए कुशलतापूर्वक करते जाना ही श्रीकृष्ण द्वारा प्रदर्शित कर्मयोग है।



अष्टछाप के कृष्णभक्त कवि

—डॉ० संसार चन्द्र

भारत एक धर्मप्राण देश है। इसलिए यहां समय-समय पर अनेक भक्ति-परक आन्दोलनों का सूत्रपात होता रहा है। भारतीय इतिहास के आदिकाल से लेकर यह क्रम किसी न किसी रूप में निरन्तर आविर्भूत होता रहा है। वैसे तो भक्ति का प्रचार एवं प्रसार-क्षेत्र काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक विस्तीर्ण है परन्तु भक्ति-आन्दोलन के यथेष्ट उत्कर्ष का श्रेय अधिकतर दाक्षिण भारत को ही प्राप्त है। ईसा की सातवीं से नवीं शताब्दी तक का समय दाक्षिणात्य भक्ति का चरम प्रकर्ष-काल माना जाता है। इस सम्बन्ध में १२ आलवार भक्तों की गौरव-गाथाएं साहित्य-जगत् में प्रसिद्ध हैं। भक्ति की पावन रसधारा दसवीं शताब्दी के उपरान्त ही उत्तर भारत की ओर प्रवाहित होती है जो कालान्तर में अनेक दार्शनिक अथवा स्वतन्त्र वैचारिक साधना-पद्धतियों को जन्म देती है। आरम्भ में भक्ति का स्वरूप व्यक्तिगत साधना तक सीमित रहा परन्तु एक ओर रामानुजाचार्य के शिष्य राघवानंद तथा उनके शिष्य रामानन्द तथा दूसरी ओर विष्णु स्वामी की परम्परा के अनुवर्ती वल्लभाचार्य, निंबार्क तथा मध्वाचार्य आदि के सफ़ल अभियान के फलस्वरूप भक्ति अधिक व्यापक होकर जनगणमन का कण्ठहार बन गई।

उत्तर भारत को जिन विभिन्न भक्ति-आन्दोलनों ने अपने प्रभाव से अभिभूत किया, उनकी विविधता का कोई ओर-छोर नहीं है। इन में अनेक आन्दोलन इतने लघुजीवी हुए कि वे इतिहास एवं साहित्य पर कोई स्थायी प्रभाव डालने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुए। अत: भक्ति को संकुचित कारा से निकाल कर जनव्यापी रूप देने वाले तथा ठोस दार्शनिक आधार से संपुष्ट बृहदांदोलन ही शाश्वत एवं स्थायी महत्त्व के अधिकारी सिद्ध हो सके।

भक्ति की जितनी स्वस्थ एवं व्यापक प्रतिक्रिया हिन्दी-साहित्य में उपलब्ध होती है वह सर्वथा अप्रतिम है। यह रामानुजाचार्य की रामभक्ति तथा विष्णु

स्वामी की कृष्णभक्ति का ही प्रभाव है कि हिन्दी का भक्तिकाल सुवर्णयुग के गौरवपूर्ण आसन पर प्रतिष्ठित हुआ। इस में सन्देह नहीं कि उपर्युक्त दोनों भक्तिधाराएं अपनी विशिष्ट उपलब्धियों से पर्याप्त मण्डित हैं और इन्हों ने हिन्दी के महाकवियों के रूप में तुलसी और सूर जैसी विभूतियां प्रदान की हैं परन्तु भक्ति-सम्बन्धी शाखाओं-प्रशाखाओं की विविधता तथा साहित्यिक विस्तार की विपुलता के कारण कृष्णभक्तिधारा का स्थान नितान्त अग्रगण्य है। कृष्णभक्ति जहां द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि अनेक दार्शनिक आधारों का सम्बल लेकर विकसित होती है, वहां इसके तत्वावधान में उन सम्प्रदायों को भी प्रश्रय मिलता है जो रंचमात्र भी दार्शनिक न होकर सर्वथा स्वतन्त्र हैं, यहां पर राधाबल्लभ, हरिदासी तथा ललित सम्प्रदाय आदि का उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय अपने एकान्त वैशिष्ठय के कारण स्वतः प्रसिद्ध है परन्तु कृष्ण-भक्ति का सर्वातिशायी रूप बल्लभ-सम्प्रदाय की ही देन माना जाता है। बल्लभ-सम्प्रदाय में भक्ति की अपनी एक स्वतन्त्र आधार-विधि है। कृष्णभक्ति के प्रचार-प्रसार तथा साहित्यिक उपलब्धि की दृष्टि से भी बल्लभ सम्प्रदाय अपने इतर सम्प्रदायों की अपेक्षा सर्वोपरि है। बल्लभाचार्य की भक्ति एक सार्वजनिक एवं लोकतांत्रिक (democratic) भक्ति है। बल्लभाचार्य के कृष्ण भी अनेक गुण-धर्मों के आधार हैं जो अपनी अचिन्त्य लीलाभक्ति से जीव एवं जगत् रूप में परिणित होते हैं। अतः जीव और जगत् माया न होकर सत्य हैं। श्रीकृष्ण सत्, चित् और आनन्द तीनों तत्वों की समष्टि हैं जो अपनी शक्ति से कभी व्यक्त तथा कभी अव्यक्त रूप धारण करते हैं। बल्लभ के कृष्ण लीलाधारी हैं, इसीलिए बल्लभाचार्य रामभक्तों की तरह उनके ईश्वरत्व एवं ब्रह्मत्व से तनिक भी आतंकित नहीं होते। उनके कृष्ण नंदनंदन, ब्रजजनरंजन, मुरलीमनोहर, नटवर, राधाबल्लभ और रसिक-शिरोमणि हैं। यह बल्लभीय भक्ति की उदारता एव व्यापकता का ही परिणाम है कि तुलसी जैसे मर्यादावादी कवि को भी इसका प्रभाव ग्रहण करना पड़ा और कृष्ण-भक्ति के अनुकरण पर श्रीकृष्णगीतावली जैसी कृति की रचना के लिए वाध्य होना पड़ा। न केवल तुलसी ही बल्कि समूची रामभक्ति-धारा को इस दृष्टि से बल्लभीय भक्ति-सिद्धान्तों का ऋणी ठहराया जा सकता है कि उसने परम्परागत मार्ग छोड़कर एक नवीन दिशा ग्रहण की और अन्ततोगत्वा इसी सम्प्रदाय से मिलते-जुलते रसिक सम्प्रदाय में विलीन हो गई।

बल्लभाचार्य ने अपने सम्प्रदाय में भक्ति का जो स्वरूप प्रतिष्ठित किया उस में श्रद्धा के स्थान पर प्रेम को अधिक महत्व प्रदान किया गया है। प्रेम-भक्ति की धारा में परिसिक्त होने के लिए बल्लभाचार्य ने श्रीकृष्ण की कृपा को अनिवार्य

माना है। इस कृपा का दूसरा नाम ही पुष्टि है। इसी लिए यह उपासना-पद्धति पुष्टिमार्ग अथवा रागानुगा भक्ति के नाम से विख्यात हुई। यद्यपि बल्लभ-सम्प्रदाय में भक्ति के तीन मार्ग मर्यादा-मार्ग, प्रवाह-मार्ग और पुष्टि-मार्ग निरूपित हुए हैं परन्तु बल्लभाचार्य ने पुष्टि-मार्ग को ही सर्वोपरि माना है। इस भक्ति में भक्त के लिए कर्मकाण्ड सर्वथा गौण हो जाता है। प्रभुकृपा से उसके जन्म-जन्मान्तर के कर्मों का अनायास शमन हो जाता है और वह निर्द्वन्द्व भाव से मोक्ष-पद का अधिकारी हो जाता है।

बल्लभ सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्त वस्तुतः नवीन नहीं थे। यह सम्प्रदाय विष्णुस्वामी के रुद्र सम्प्रदाय का जिस का आधार शुद्धद्वैतवाद था संशोधित एवं संवर्धित रूप है। बल्लभाचार्य जो महाप्रभु की उपाधि से विभूषित थे अपने समय के एक प्रकांण्ड वेद-वेदांग-ज्ञाता माने जाते थे। उन्होंने इस भक्ति-सम्प्रदाय की सेवा में अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर दिया। उन्होंने न केवल इसके परम्परागत सिद्धान्तों को ही नवीन शास्त्रीय व्यवस्था दी बल्कि इसको सर्वप्रिय एवं सर्वग्राह्य बनाने के लिए इसे प्रस्थानचतुष्टयी पर लिखी हुई अपनी टीकाओं के निकष पर परख कर खरा सिद्ध किया। शंकराचार्य जो प्रस्थानत्रयी के सब से बड़े भाष्यकार थे के युग से लेकर प्रत्येक सम्प्रदाय—विशेषकर भक्तिपरक सम्प्रदाय के लिए—प्रस्थानत्रयी की मुहर अनिवार्य हो गई थी। प्रस्थानत्रयी में तो ग्यारह उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता ही सम्मिलित थे। बल्लभाचार्य ने एक कदम और आगे बढ़कर श्रीमद्भागवत पर अपनी सुबोधिनी नामक टीका लिखकर प्रस्थानचतुष्टयी की नवीन कल्पना कर डाली थी। इस दृष्टि से यह भारत का सर्वप्रथम भक्तिसम्प्रदाय था जिसे इतने व्यापक स्तर पर पुराणनिगमागम-सम्मानता प्राप्त हुई। प्रस्थानत्रयी सम्मत शंकराचार्य का अद्वैतवाद जिसे भक्ति-आन्दोलन के प्रमुख नेता मायावाद कहते थे के लिए यह एक बहुत बड़ी चुनौती थी। सम्भवतः इसीलिए बल्लभाचार्य इसके सर्वेसर्वः हो गये थे और यह मत अपने नवीन नामकरण 'बल्लभ-सम्प्रदाय' से लोकविश्रुत हो गया।

बल्लभ-सम्प्रदाय की प्रगति एवं अभ्युदय के लिए इस के मतावलम्बियों में अनुशासनप्रियता, व्यवस्था का आग्रह तथा प्रसार एवं प्रचार की अदम्य क्षमता आदि गुण विशेष रूप से उत्तरदायी हुए हैं। बल्लभाचार्य ही नहीं बल्लभाचार्य के सुपुत्र विट्ठलनाथ एवं इनके पौत्र गोकुलनाथ आदि सभी लोग इस सम्प्रदाय को पूर्णतया समर्पित थे।

गोस्वामी विट्ठलनाथ तो अपने पिता के समान ही इस सम्प्रदाय को एक ठोस आधार पर स्थापित करने के लिए कृत-संकल्प थे। बल्लभ-सम्प्रदाय को

प्रगति के नवीन शिखर पर प्रतिष्ठित करने के लिए इन्होंने एक ऐसे सुगठित एवं सुनियोजित साहित्यिक अभियान का सूत्रपात किया जो आगे चलकर कृष्णभक्ति काव्य में एक मील का पत्थर सिद्ध हुआ। इन्होंने भक्ति, साहित्य एवं संगति में निष्णात चार लोक-विश्रुत कवियों को जो उन के पिता बल्लभाचार्य के शिष्य थे तथा चार और कवियों को जो उन के निजी शिष्य-परम्परा में आते थे संगठित कर एक ऐसी सारस्वत संस्था को जन्म दिया जो आठ भगवद्भक्त कवियों पर अवलम्बित होने के कारण अष्टछाप कहलाई। वैसे तो बल्लभाचार्य के पुष्टि-मार्ग में दीक्षित कवियों एवं संगीतज्ञों की संस्था अत्यन्त विशाल थी परन्तु गोस्वामी विट्ठलनाथ ने इन्हीं आठ सुविख्यात कृष्णोपासकों का जिन के नाम सूरदास, परमानंद दास, कुंभनदास, कृष्णदास (बल्लभाचार्य के शिष्य) तथा नंददास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास (उन के निजी शिष्य) थे इस महान् उत्तरदायित्वपूर्ण साहित्यिक अनुष्ठान के लिए मनोनीत किया और १५६५ ईस्वी में इस ऐतिहासिक संस्था की स्थापना की। अष्टछाप के इन आठों सदस्यों के लिए परस्पर सहयोग में रहते हुए गोवर्धन पर्वत पर स्थित श्रीनाथ जी के मन्दिर में भगवान् कृष्ण के लीलापदों की रचना करना तथा उनके कीर्तन-गान में निरन्तर रत रहना नितान्त आवश्यक था। ये आठों के आठों व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ भक्त, महान् काव्यकार तथा संगीतकला में निपुण थे और सभी एक सूत्र में बंध कर ही अपने गुरु ऋण का निराकरण कर रहे थे। इसलिए इन्हें अष्टसखा के नाम से भी पुकारा जाता था।

कृष्णभक्तिक्षेत्र में अष्टछाप के कवियों का साहित्यिक योगदान सर्वथा अप्रतिम है। उन्होंने केवल साम्प्रदायिक विधि-विधानों तथा अन्य उपचारों को ही अपने काव्य का विषय नहीं बनाया प्रत्युत विशुद्ध काव्यरचना की दृष्टि से भी उनका महत्व अग्रगण्य है। इन्होंने रूपवर्णन, प्रेमवर्णन तथा वात्सल्यवर्णन में जितनी ख्याति अर्जित की है उतनी किसी भी प्रसिद्ध कवि को प्राप्त होनी कठिन है। राधाकृष्ण की रूपमाधुरी, गोपियों के प्रेम-प्रलाप जितनी गहराई से पाठक के हृदय को झकझोर देते हैं, यह किसी से अज्ञात नहीं है। वात्सल्य-वर्णन में तो इन कवियों की कल्पना इतनी उदार, व्यापक एवं मार्मिक होकर प्रत्यक्ष हुई है कि इस क्षेत्र का कोई भी कोना अछूता नहीं रहा। इस लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन आठों कवियों की रससिद्ध वाणी को आठ वीणाएं कह कर पुकारा है।

अष्टछाप के कवियों ने रूप-वर्णन के अन्तर्गत बालकृष्ण का नखशिख वर्णन तथा उसकी बालसुलभ मनोहारी चेष्टाओं एवं क्रीड़ाओं का भी हृदयहारी वर्णन किया है। बालस्वभाव और बालमनोविज्ञान की परख की दृष्टि से सूर का

कवि-कर्म न केवल अष्टछाप के इतर कवियो में सर्वोच्च ठहरता है परन्तु समूचे हिन्दी साहित्य में भी उसकी समता अन्यत्र नहीं मिलती। बालकृष्ण की किलकारियों तथा अनेक निश्छल एवं भोली क्रीड़ाओं के वर्णन में उनकी कला पर्याप्त रमी है।

राधाकृष्ण के कैशोर्यवर्णन में भी अष्टछाप के कवियों ने अपनी अपूर्व सूझ-बूझ का परिचय दिया है। इनके वर्णनों में मादकता का पर्याप्त संसार मिलता है। बालकृष्ण का गोचारण के लिए प्रयाण, ग्वालबाल से खेल-मसखरी, आंख-मिचौनी खेलना, लड़ना-झगड़ना, माता से शिकायत करना बलराम के प्रति बालोचित खीझ एवं ईर्ष्या, हठ, उपालम्भ आदि अनेक ऐसी स्वाभाविक मनः-स्थितियों के चित्रण मिलते हैं जो अष्टछाप के कवियों को हिन्दी की सर्वोत्तम देन कही जा सकती है।

अष्टछाप के कवियों में महाकवि सूरदास का स्थान सर्वोपरि है। वल्लभीय कृष्णभक्तिधारा का प्रवाह जिस अजस्र रूप से सूरकाव्य में तरंगित हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसी लिए अष्टछाप के संस्थापक गोस्वामी विट्ठलनाथ ने सूरदास को पुष्टिमार्ग का जहाज़ कह कर सम्मानित किया है। वास्तव में पुष्टि-मार्गीय भक्ति ही सूरकाव्य का मेरुदण्ड है। भागवत को उपजीव्य मानकर उन्होंने राधाकृष्ण की लीलाओं के केवल उन्हीं मार्मिक स्थलों को चुना है जो पाठक की हृदय-वीणा के तारों को अनायास ही झंकृत कर देते हैं। सूरदास एक अद्‌भुत कलामर्मज्ञ कवि हैं जो समूचे लोक-जीवन को अपने कला-चुम्बक से हस्तामलकवत् कर देते हैं। इस महाकवि के श्रीकृष्ण लोकजीवन में घुल-मिल कर तद्रूप हो गये हैं। संक्षेप में सूरदास का सम्पूर्ण वाग्वैदग्ध्य, उसका सम्पूर्ण कलापाटव लीलाधाम श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों में समर्पित हो गया है। उसके प्रत्येक श्वास से निज गुरु वल्लभाचार्य का यह मन्त्र निरन्तर उच्चरित होता है—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द, तुभ्यमेव समर्पये।

अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद दूसरे उल्लेखनीय कवियों में नंददास का नाम विशेष महत्वपूर्ण है। इनके सम्बन्ध में प्रचलित एक उक्ति "और कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया" साहित्यरचना की दृष्टि से इनकी विशिष्ठ ख्याति की परिचायक है। इन की सर्वप्रसिद्ध रचना रासपंचाध्यायी में श्रीकृष्ण की रासलीला का अत्यन्त रोचक वर्णन मिलता है जिस कारण कुछ विद्वान् इस रचना को हिन्दी का गीतगोविन्द कहते हैं। इनकी एक और रचना भंवरगीत भी पर्याप्त प्रसिद्ध हुई है। इसमें गोपियों का वाग्वैदग्ध्य तथा उनकी मर्मस्पर्शिता कविहृदय की सरसता का परिचय देती है। परमानंददास भी अष्टछाप के कवियों में विशेष

महत्व के अधिकारी सिद्ध होते हैं। इनकी प्रमुख रचना परमानंदसागर में श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन पर्याप्त अनुभूतिपूर्ण है। बालमनोविज्ञान के पारखी के रूप में भी अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद आप का ही नाम लिया जाता है। एक सफल संगीतज्ञ की दृष्टि से भी इन कवियों में आपका स्थान गौरवपूर्ण है। पुष्टिमार्गीय भक्ति के प्रचार-प्रसार के लिए अष्टछाप के शेष कवियों की भूमिका भी पर्याप्त महत्वपूर्ण रही है। इन्होंने अपनी मधुर काव्य-रचना तथा हृदयहारी संगीतज्ञता के प्रभाव से पर्याप्त ख्याति अर्जित की। यद्यपि इन के स्वतन्त्र काव्य-संग्रह प्रामाणिक रूप से उपलब्ध नहीं होते परन्तु इनके सरस पद अनेक संकलनों में यत्र तत्र बिखरे हुए हैं जिन का कीर्तन-गान आज भी कृष्ण-भक्ति-रसिकों को भाव-विभोर कर देता है।



लेखकों से

'धर्म मार्ग' धर्म, दर्शन, ज्योतिष, इतिहास, आध्यात्मिकता, कला, संस्कृति जैसे विषयों पर अधारित लेख, कहानी. कविता, संस्मरण आदि आमंत्रित करता है। जम्मू-कश्मीर-संबंधी रचनाओं को विशेष महत्व दिया जाएगा।

रचनाएं जितनी मौलिक, अप्रकाशित, अप्रसारित और हमारे उद्देश्यानुरूप होंगी उतनी अधिक प्राथमिकता उन्हें दी जाएगी।

स्वीकृति की दशा में सूचना तुरन्त भेज दी जाएगी। अस्वीकृति की सूचना नहीं दी जाएगी। कार्बन प्रतियां स्वीकृत नहीं की जाएंगी।

अस्वीकृत रचनाएं तभी लौटाई जाएंगी यदि उनके साथ डाक-टिकट लगा और पता लिखा लिफाफा भेजा गया होगा।

रचनाएं जितनी स्पष्ट लिखी या टाइप की हुई होंगी उन्हें प्रकाशित करने में हमें उतनी ही सुविधा होगी।

रचनाओं पर निश्चित उपयायन-पारिश्रमिक भेंट किया जाएगा।

—संपादक

राजानृग का इतिहास

—मदन मोहन शास्त्री

श्री शुकदेव जी कहते हैं—प्रिय परीक्षित् ! एक दिन साम्ब, प्रद्युम्न, चारुभानु और गद आदि यदुवंशी राजकुमार घूमने के लिये उपवन में गये, वहां बहुत देर तक खेल खेलते हुए उन्हें प्यास लग आई। अब वे इधर-उधर जल की खोज करने लगे। वे एक कूएं के पास गये; उसमें जल तो था नहीं, एक बड़ा विचित्र जीव दीख पड़ा। वह जीव पर्वत के समान आकार का एक गिरगिट था। उसे देखकर उनके आश्चर्य की सीमा न रही। उनका हृदय करुणा से भर आया और वे उसे बाहर निकालने का प्रयत्न करने लगे। परन्तु जब वे राजकुमार उस गिरे हुए गिरगिट को चमड़े और सूत की रस्सियों से बांध कर बाहर न निकाल सके, तब कुतूहलवश उन्होंने यह आश्चर्यमय वृत्तान्त भगवान् श्रीकृष्ण के पास जाकर निवेदन किया। जगत् के जीवनदाता कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण उस कुएं पर आये। उसे देखकर उन्होंने बाएं हाथ से खेल-खेल में—अनायास ही उसको बाहर निकाल लिया। भगवान् श्रीकृष्ण के करकमलों का स्पर्श होते ही उसका गिरगिट रूप जाता रहा और वह एक स्वर्गीय देवता के रूप में परिणत हो गया। अब उस के शरीर का रंग तपाये हुए सोने के समान चमक रहा था और उसके शरीर पर अद्भुत वस्त्र, आभूषण और पुष्पों के हार शोभा पा रहे थे। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण जानते थे कि इस दिव्य पुरुष को गिरगिट योनि क्यों मिली थी, फिर भी वह कारण सर्वसाधारण को मालूम हो जाए, इस लिए उन्हों ने उस दिव्य पुरुष से पूछा—'महाभाग ! तुम्हारा रूप तो बहुत ही सुन्दर है, तुम हो कौन ? मैं तो ऐसा समझता हूं कि तुम अवश्य ही कोई श्रेष्ठ देवता हो। कल्याणमूर्त्ते ! किस कर्म के फल से तुम्हें इस योनि में आना पड़ा था ? वास्तव में तुम इसके योग्य नहीं हो। हम लोग तुम्हारा वृत्तान्त जानना चाहते हैं। यदि तुम हम लोगों को वह बतलाना उचित समझो तो अपना परिचय अवश्य दो।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—परीक्षित ! जब अनन्त-मूर्ति भगवान् श्री कृष्ण ने

राजा नृग से [क्योंकि वे ही इस रूप में प्रकट हुए थे] इस प्रकार पूछा, तब उन्होंने अपना सूर्य के समान जाज्वल्यमान मुकुट झुका कर भगवान् को प्रणाम किया और वे इस प्रकार कहने लगे। राजा नृग ने कहा—प्रभो ! मैं महाराज इक्ष्वाकु का पुत्र राजा नृग हूं। जब कभी किसी ने आप के सामने दानियों की गिनती की होगी, तो उस में मेरा नाम भी अवश्य ही आप के कानों में पड़ा होगा। प्रभो ! आप समस्त प्राणियों की एक-एक वृत्ति के साक्षी हैं। भूत और भविष्यत् का व्यवधान भी आप के अखण्ड ज्ञान में किसी प्रकार की बाधा नहीं डाल सकता। अतः आप से छिपा ही क्या है ? फिर भी मैं आप की आज्ञा का पालन करने के लिये कहता हूं। भगवन् ! पृथ्वी में जितने धूलिकण हैं, आकाश में जितने तारे हैं और वर्षा में जितनी जल की धाराएं गिरती हैं, मैंने उतनी ही गौएं दान की थीं। वे सभी गौएं दुधार, नौ जवान, सीधी, सुन्दर, सुलक्षणा और कपिला थीं। उन्हें मैं ने धान्य के धन से प्राप्त किया था। सब के साथ बछड़े थे। उन के सींगों में सोना मढ़ दिया गया था और खुरों में चांदी। उन्हें वस्त्र, हार और गहनों से सजा दिया जाता था। ऐसी गौएं मैं ने दी थीं। भगवन् ! मैं युवावस्था से सम्पन्न श्रेष्ठ ब्राह्मण-कुमारों को—जो सद्गुणी, शीलसम्पन्न, कष्ट में पड़े हुए कुटुम्ब वाले, दम्भरहित तपस्वी, वेदपाठी, शिष्यों को विद्यादान करने वाले तथा सच्चरित्र होते—वस्त्रभूषण से अलङ्कृत करता और उन गौओं का दान करता। इस प्रकार मैंने बहुत सी गौएं, पृथ्वी, सोना, घर, घोड़े, हाथी, दासियों के सहित-कन्याएं, तिलों के पर्वत, चाँदी, शय्या, वस्त्र, रत्न, गृह-सामग्री और रथ आदि दान किये। अनेकों यज्ञ किये और बहुत से कुएं, बावली आदि बनवाये। एक दिन किसी अप्रतिग्रही (दान न लेने वाले) तपस्वी ब्राह्मण की एक गाय बिछुड़ कर मेरी गौओं में आ मिली। मुझे इस बात का बिल्कुल पता न चला। इस लिए मैंने अनजान में उसे किसी दूसरे ब्राह्मण को दान कर दिया। जब उस गाय को वे ब्राह्मण ले चले, तब उस गाय के असली स्वामी ने कहा—'यह गौ मेरी है।' दान ले जाने वाले ब्राह्मण ने कहा—'यह तो मेरी है, क्योंकि राजा नृग ने मुझे इस का दान किया है'। वे दोनों ब्राह्मण आपस में झगड़ते हुए अपनी-अपनी बात कायम करने के लिये मेरे पास आये। एक ने कहा 'यह गाय अभी-अभी आपने मुझे दी है' और दूसरे ने कहा कि 'यदि ऐसी बात है तो तुमने मेरी गाय चुरा ली है।' भगवन् ! उन दोनों ब्राह्मणों की बात सुनकर मेरा चित्त भ्रमित हो गया। मैंने धर्मसंकट में पड़ कर उन दोनों से बड़ी अनुनय-विनय की और कहा कि बदले में एक लाख उत्तम गौएं दूंगा। आप लोग मुझे यह गाय दे दीजिये। मैं आप लोगों का सेवक हूँ। मुझ से अनजाने में यह अपराध बन गया है। मुझ पर आप लोग कृपा कीजिये और मुझे इस घोर कष्ट से तथा घोर नरक में गिरने से बचा

लीजिये'। 'राजन्! मैं इस के बदले में कुछ नहीं लूंगा'। यह कह कर गाय का स्वामी चला गया। 'तुम इस के बदले में एक लाख नहीं, दस हज़ार गौए और दो तो भी मैं लेने का नहीं।' इस प्रकार कह कर दूसरा ब्राह्मण भी चला गया। देवाधिदेव जगदीश्वर! इस के बाद आयु समाप्त होने पर यमराज के दूत आये और मुझे यमपुरी ले गये। वहां यमराज ने मुझ से पूछा। 'राजन्! तुम पहले अपने पाप का फल भोगना चाहते हो या पुण्य का? तुम्हारे दान और धर्म के फलस्वरूप तुम्हें ऐसा तेजस्वी लोक प्राप्त होने वाला है, जिस की कोई सीमा ही नहीं है।' भगवन्! तब मैंने यमराज से कहा—देव! पहले मैं अपने पाप का फल भोगना चाहता हूँ।' और उसी क्षण यमराज ने कहा – 'तुम गिर जाओ।, उन के ऐसा कहते ही मैं वहां से गिरा और गिरते ही समय मैंने देखा कि मैं गिरगिट हो गया हूँ। प्रभो! मैं ब्राह्मणों का सेवक, उदार, दानी और आप का भक्त था। मुझे इस बात की उत्कट अभिलाषा थी कि किसी प्रकार आप के दर्शन हो जाएं। इस प्रकार आप की कृपा से मेरे पूर्वजन्मों की स्मृति नष्ट न हुई। भगवन्! आप परमात्मा हैं। बड़े-बड़े शुद्धहृदय योगीश्वर उपनिषदों की दृष्टि से (अभेद दृष्टि से) अपने हृदय में आप का ध्यान करते रहते हैं। इन्द्रियातीत परमात्मन्! साक्षात् आप मेरे नेत्रों के सामने कैसे आ गये? क्योंकि मैं तो अनेक प्रकार के व्यसनों, दुःखद कर्मों में फंस कर अंधा हो रहा था। आप का दर्शन तो तब होता है, जब संसार के चक्कर से छुटकारा मिलने का समय आता है। देवताओं के भी आराध्य देव! पुरुषोत्तम गोविन्द! आप ही व्यक्त और अव्यक्त जगत् तथा जीवों के स्वामी हैं। अविनाशी अच्युत! आप की कीर्ति पवित्र है। अन्तर्यामी नारायण! आप ही समस्त वृत्तियों और इन्द्रियों के स्वामी हैं। प्रभो! श्री कृष्ण! मैं अब देवताओं के लोक में जा रहा हूँ। आप मुझे आज्ञा दीजिये। आप ऐसी कृपा कीजिये कि मैं चाहे कहीं भी क्यों न रहूँ, मेरा चित्त सदा आप के चरणकमलों में ही लगा रहे। आप समस्त कार्यों और कारणों के रूप में विद्यमान हैं। आप की शक्ति अनन्त है और आप स्वयं ब्रह्म हैं। आप को मैं नमस्कार करता हूँ। सच्चिदानन्द स्वरूप सर्वान्तिर्यामी वासुदेव श्री कृष्ण! आप समस्त योगों के स्वामी, योगेश्वर हैं। मैं आप को बार-बार नमस्कार करता हूं। राजा नृग ने इस प्रकार कहकर भगवान् की परिक्रमा को और अपने मुकुट से उन के चरणों का स्पर्श कर के प्रणाम किया। फिर उन से आज्ञा ले कर सब के देखते देखते ही वे श्रेष्ठ विमान पर सवार हो गये। राजा नृग के चले जाने पर ब्राह्मणों के परम प्रेमी, धर्म के आधार देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण ने क्षत्रियों को शिक्षा देने के लिये वहां उपस्थित अपने कुटुम्ब के लोगों से कहा— 'जो लोग अग्नि के समान तेजस्वी हैं, वे भी ब्राह्मणों का थोड़े से-थोड़ा धन हड़प

कर नहीं पचा सकते। फिर जो अभिमानवश भूठमूठ अपने को लोगों का स्वामी समझते हैं, वे राजा तो क्या पचा सकते हैं। मैं हलाहल विष को विष नहीं मानता, क्योंकि उस की चिकित्सा होती है। वस्तुतः ब्राह्मणों का धन ही परम विष है; उस को पचा लेने के लिये पृथ्वी में कोई औषध, कोई उपाय नहीं है। हलाहल विष केवल खाने वाले का ही प्राण लेता है और आग भी जल के द्वारा बुझाई जासकती है; परन्तु ब्राह्मण के धनरूप अरणि से जो आग पैदा होता है, वह सारे कुल को समूल जला डालती है। ब्राह्मण का धन यदि उस को पूरी-पूरी सम्मति लिये विना भोगा जाय तब तो वह भोगने वाले, उस के लड़के और पौत्र—इन तीन पीढ़ियों को ही चौपट करता है। परन्तु यदि बलपूर्वक हठ कर के उस का उपयोग किया जाय, तब तो पूर्व पुरुषों की दस पीढ़ियां और आगे की भी दस पीढ़ियां नष्ट हो जाती हैं। जो मूर्ख राजा अपनी राजलक्ष्मी के घमंड से अंधे हो केर ब्राह्मणों का धन हड़पना चाहते हैं; समझना चाहिये कि वे जान बूझ कर नरक में जाने का रास्ता साफ कर सकते हैं। वह देखते नहीं कि उन्हें अधःपतन के कैसे गहरे गड्ढे में गिरना पड़ेगा। जिन उदार हृदय और बहुकुटुम्बो ब्राह्मणों की वृत्ति छीन ली जाती है। उन के रोने पर उन की आंसू की बूंदों से धरती के जितने धूलिकण भीगते हैं; उतने वर्षो तक ब्राह्मण के स्वत्व को छीनने वाले उस उच्छृंखल राजा और उस के वंशजों को कुम्भीपाक नरक में दुःख भोगना पड़ता है। जो मनुष्य अपनी या दूसरों की दी हुई ब्राह्मणों की वृत्ति, उन की जोविका के साधन छीन लेते हैं, वे साठ हज़ार वर्ष तक विष्ठा के कीड़े होते हैं। इस लिये मैं तो यही चाहता हूं कि ब्राह्मणों का धन कभी भूल से भी मेरे कोष में न आये, क्योंकि जो लोग ब्राह्मणों के धन की इच्छा भी करते हैं—उसे छीनने की बात तो अलग रही—वे इस जन्म में अल्पायु, शत्रुओं से पराजित और राजभ्रष्ट हो जाते हैं और मृत्यु के बाद भी वे दूसरों को कष्ट देने वाले सांप ही होते हैं। इस लिये मेरे आत्मीयो ! यदि ब्राह्मण अपराध करे तो भी उस से द्वेष मत करो। वह मार ही क्यों न बैठे या बहुत सी गालियां या शाप ही क्यों न दे, उसे तुम लोग सदा नमस्कार करो। जिस प्रकार मैं बड़ी सावधानी से तीनों समय ब्राह्मणों को प्रणाम करता हुं, वैसे ही तुम लोग भी किया करो। जो मेरी इस आज्ञा का उल्लंघन करेगा, उसे मैं क्षमा नहीं करूंगा, दण्ड दूंगा। यदि ब्राह्मण के धन का अपहरण हो जाए तो वह अपहृतधन उस अपहरण करने वाले को—अनजान में उस के द्वारा यह अपराध हुआ हो तो भी—अधःपतन के गड्ढे में डाल देता है। जैसे ब्राह्मण की गाय ने अनजान में उस के लेने वाले राजा नृग को नरक में डाल दिया था। परीक्षित ! समस्त लोगों को पवित्र करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण द्वारिकावासियों को इस प्रकार उपदेश दे कर अपने महल में चले गये।

नाभाग और अम्बरीष की कथा

श्री शुक देव जी कहते हैं—परीक्षित ! मनुपुत्र नभग का पुत्र था नाभाग। जब वह दीर्घकाल तक ब्रह्मचर्य का पालन करके लौटा तब बड़े भाइयों ने अपने से छोटे किन्तु विद्वान् भाई को हिस्से में केवल पिता को ही दिया (सम्पत्ति तो उन्होंने पहले ही आपस में बांट ली थी)। उस ने अपने भाइयों से पूछा—भाइयो ! आप लोगों ने मुझे हिस्से में क्या दिया है ? तब उन्होंने उत्तर दिया कि हम तुम्हारे हिस्से में पिता जी को ही तुम्हें देते हैं।' उसने अपने पिता से जाकर कहा—'पिता जी ! मेरे बड़े भाइयों ने हिस्से में मेरे लिये आप को ही दिया है।' पिता ने कहा—'बेटा ! तुम उनकी बात न मानो। देखो, ये बड़े बुद्धिमान् आङ्गरस-गोत्र के ब्राह्मण इस समय एक बहुत बड़ा यज्ञ कर रहे हैं। परन्तु मेरे विद्वान् पुत्र ! वे प्रत्येक छठे दिन अपने कर्म में भूल कर बैठते हैं। तुम उन महात्माओं के पास जाकर उन्हें वैश्वदेवसम्बन्धी दो सूक्त बतला दो; जब वे स्वर्ग जाने लगेंगे, तब यज्ञ से बचा हुआ अपना सारा धन तुम्हें दे देंगे। इस लिये अब तुम उन्हीं के पास चले जाओ।' उस ने अपने पिता की आज्ञानुसार वैसा ही किया। उन आङ्गिरसगोत्री ब्राह्मणों ने भी यज्ञ का बचा हुआ धन उसे दे दिया और वे स्वर्ग में चले गये।

जब नाभाग उस धन को लेने लगा, तब उत्तर दिशा से एक काले रंग का पुरुष आया, उस ने कहा—'इस यज्ञ भूमि में जो कुछ बचा हुआ है, वह सब धन मेरा है।' नाभाग ने कहा—ऋषियों ने यह धन मुझे दिया है, इस लिये मेरा है। इस पर उस पुरुष ने कहा—'हमारे विवाद के विषय में तुम्हारे पिता से ही प्रश्न किया जाय।' तब नाभाग ने जाकर पिता से पूछा। पिता ने कहा—'एक बार दक्ष-प्रजापति के यज्ञ में ऋषि लोग यह निश्चय कर चुके हैं कि यज्ञभूमि में जो कुछ बच रहता है, वह सब रुद्रदेव का हिस्सा है। इस लिये वह धन तो महादेव जी को ही मिलना चाहिये। नाभाग ने जाकर उन काले रंग के पुरुष रुद्र भगवान् को प्रणाम किया और कहा कि प्रभो ! यज्ञभूमि की सभी वस्तुएं आप की हैं, मेरे पिता ने ऐसा ही कहा है। भगवन् ! मुझ से अपराध हुआ, मैं सिर झुका कर आप से क्षमा मांगता हूँ। तब भगवान् रुद्र ने कहा—'तुम्हारे पिता ने धर्म के अनुकूल निर्णय दिया है और तुमने भी मुझ से सत्य ही कहा है। तुम वेदों का अर्थ तो पहले से ही जानते हो। अब मैं तुम्हें सनातन ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान देता हूँ। यह यज्ञ में बचा हुआ मेरा जो अंश है, यह धन भी मैं तुम्हें ही दे रहा हूं; तुम इसे स्वीकार करो।' इतना कह कर सत्यप्रेमी भगवान् रुद्र अन्तर्धान हो गये। जो मनुष्य प्रातः और सांयकाल एकाग्रचित्त से इस आख्यान का स्मरण करता है, वह प्रतिभाशाली एवं वेदज्ञ तो होता ही है, साथ ही अपने स्वरूप को भी जान लेता है।

नाभाग के पुत्र हुए अम्बरीष। वे भगवान् के बड़े प्रेमी एवं उदार धर्मात्मा थे। जो ब्रह्मशाप कभी कहीं रोका नहीं जा सका, वह भी अम्बरीष का स्पर्श न कर सका।

राजा परीक्षित ने पूछा—भगवन्! मैं परम ज्ञानी राजर्षि अम्बरीष का चरित्र सुनना चाहता हूँ। ब्राह्मण ने क्रोधित हो कर उन्हें ऐसा दण्ड दिया, जो किसी प्रकार टाला नहीं जा सकता; परन्तु वह भी उन का कुछ न बिगाड़ सका।

शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित! अम्बरीष बड़े भाग्यवान् थे। पृथ्वी के सातों द्वीप, अचल सम्पत्ति और अतुलनीय ऐश्वर्य उन को प्राप्त था। यद्यपि ये सब साधारण मनुष्यों के लिये अत्यन्त दुर्लभ वस्तुएं हैं फिर भी वे इन्हें स्वप्नतुल्य समझते थे। क्योंकि वे जानते थे कि जिस धन वैभव के लोभ में पड़ कर मनुष्य घोर नरक में जाता है, वह केवल चार दिन की चांदनी है। उस का दीपक तो बुझा बुझाया है। भगवान् श्री कृष्ण में और उन के प्रेमी साधुओं में उन का परम प्रेम था। उस प्रेम के प्राप्त हो जाने पर तो यह सारा विश्व और इस की समस्त सम्पत्तियां मिट्टी के ढेले के समान जान पड़ती हैं। उन्हों ने अपने मन को श्रीकृष्ण-चन्द्र के चरणारविन्दयुगल में, वाणी को भगवद्गुणानुवर्णन में, हाथों को श्रीहरि-मन्दिर के मार्जन-सेवन में और अपने कानों को भगवान् अच्युत की मङ्गलमयी कथा के श्रवण में लगा रखा था। उन्होंने अपने नेत्र मुकुन्दमूर्ति एवं मन्दिरों के दर्शनों में, अङ्ग-सङ्ग भगवद्भक्तों के शरीर-स्पर्श में, नासिका उन के चरण कमलों पर चढ़ी श्रीमती तुलसी के दिव्यगन्ध में और रसना (जिह्वा) को भगवान् के प्रति अर्पित नैवेद्यप्रसाद में संलग्न कर दिया था। अम्बरीष के पैर भगवान् के क्षेत्र आदि की पैदल यात्रा करने में ही लगे रहते और वे सिर से भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों की वन्दना किया करते। राजा अम्बरीष ने माला, चन्दन आदि भोगसामग्री को भगवान् की सेवा में समर्पित कर दिया था। भोगने की इच्छा से नहीं, बल्कि इस लिये कि इस से वह भगवत्प्रेम प्राप्त हो, जो पवित्रकीर्ति भगवान् के निज जनों में ही निवास करता है। इस प्रकार उन्हों ने अपने सारे कर्म यज्ञपुरुष, इन्द्रियातीत भगवान् के प्रति उन्हें सर्वात्मा एवं सर्वस्वरूप समझ कर समर्पित कर दिये थे और भगवद्भक्त ब्राह्मणों की आज्ञा के अनुसार वे इस पृथ्वी का शासन करते थे। उन्होंने 'धन्व' नाम के निर्जल देश में सरस्वती नदी के प्रवाह के सामने वसिष्ठ, असित, गौतम आदि भिन्न भिन्न आचार्यों द्वारा महान् ऐश्वर्य के कारण सर्वाङ्ग-परिपूर्ण तथा बड़ी-बड़ी दक्षिणा वाले अनेकों अश्वमेध यज्ञ करके यज्ञाधिपति भगवान् की आराधना की थी। उन के यज्ञों में देवताओं के साथ जब सदस्य और ऋत्विज बैठ जाते थे, तब उन की पलकें नहीं पड़ती थीं और वे अपने सुन्दर वस्त्र और वैसे ही रूप के कारण देवताओं के समान दिखाई पड़ते थे। उन की प्रजा

महात्माओं के द्वारा गाये हुए भगवान् के उत्तम चरित्रों का किसी समय बड़े प्रेम से श्रवण करती और किसी समय उनका गान करती। इस प्रकार उन के राज्य के मनुष्य देवताओं के अत्यन्त प्यारे स्वर्ग की भी इच्छा नहीं करते। वे अपने हृदय में अनन्त प्रेम का दान करने वाले श्रीहरि का नित्य निरन्तर दर्शन करते रहते थे। इस लिये उन लोगों को वह भोगसामग्री भी हर्षित नहीं कर पाती थी, जो बड़े-बड़े सिद्धों को भी दुर्लभ है। वे वस्तुएं उन के आत्मानन्द के सामने अत्यन्त तुच्छ और तिरस्कृत थीं। राजा अम्बरीष इस प्रकार तपस्या से युक्त भक्तियोग और प्रजापालनरूप स्वधर्म के द्वारा भगवान् को प्रसन्न करने लगे और धीरे-धीरे उन्होंने सब प्रकार की आसक्तियों का परित्याग कर दिया। घर, स्त्री, पुत्र, भाई-बन्धु, बड़े-बड़े हाथी, रथ, घोड़े एवं पैदलों की चतुरङ्गिणी सेना, अक्षयरत्न, आभूषण और आयुध आदि समस्त वस्तुओं तथा कभी समाप्त न होने वाले कोशों के सम्बन्ध में उनका ऐसा दृढ निश्चय था कि वे सब के सब असत्य हैं। उन की अनन्य प्रेम-मयी भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् ने उन की रक्षा के लिये सुदर्शन चक्र को नियुक्त कर दिया था, जो विरोधियों को भयभीत करने वाला एवं भगवद्भक्त की रक्षा करने वाला है।

राजा अम्बरीष की पत्नी भी उन्ही के समान धर्मशील, संसार से विरक्त एवं भक्तिपरायण थी। एक बार उन्होंने अपनी पत्नी के साथ भगवान् श्रीकृष्ण की आराधना करने के लिये एक वर्ष तक द्वादशीप्रधान एकादशी व्रत करने का नियम ग्रहण किया। व्रत की समाप्ति होने पर कार्तिक महीने में उन्हों ने तीन रात का उपवास किया और एक दिन यमुना जी में स्नान करके मधुवन में भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा की। उन्होंने महाभिषेक की विधि से सब प्रकार की सामग्री और सम्पत्ति द्वारा भगवान् का अभिषेक किया और हृदय से तन्मय हो कर वस्त्र, आभूषण, चन्दन, माला एवं अर्घ्य आदि के द्वारा उन की पूजा की। यद्यपि महाभाग्यवान् ब्राह्मणों को इस पूजा को कोई आवश्यकता नहीं थी, स्वयं ही उनकी सारो कामनाएं पूर्ण हो चुकी थीं—वे सिद्ध थे— तथापि राजा अम्बरीष ने भक्तिभाव से उनका पूजन किया।

तत्पश्चात् पहले ब्राह्मणों को स्वादिष्ट और अत्यन्त गुणकारी भोजन कराकर उन लोगों के घर साठ करोड़ गौएं सुसज्जित करके भेज दीं। उन गौओं के सींग सुवर्ण से और खुर चांदी से मढ़े हुए थे। सुन्दर-सुंदर वस्त्र उन्हें ओढ़ा दिये गये थे। वे गौएं बड़ी सुशील, छोटी अवस्था की, देखने में सुन्दर, बछड़ों वाली और खूब दूध देने वाली थीं। उनके साथ दुहने की उपयुक्त सामग्री भी उन्होंने भिजवा दी थी। जब ब्राह्मणों को सब कुछ मिल चुका, तब राजा ने उन लोगों से आज्ञा लेकर व्रत

का पारण करने की तैयारी की, उसी समय शाप और वरदान देने में समर्थ स्वयं दुर्वासा जी भी उनके यहां अतिथि के रूप में पधारे। राजा अम्बरीष उन्हें देखते ही उठ कर खड़े हो गये, आसन देकर बिठाया और विविध सामग्रियों से अतिथि के रूप में आये हुए दुर्वासा जी की पूजा की। उनके चरणों में प्रणाम करके अम्बरीष ने भोजन के लिये प्रार्थना की। दुर्वासा जी ने अम्बरीष की प्रार्थना स्वीकार कर ली और इसके बाद आवश्यक कर्मों से निवृत्त होने के लिये वे नदी पर चले गये। वे ब्रह्म का ध्यान करते हुए यमुना के पवित्र जल में स्नान करने लगे। इधर द्वादशी केवल घड़ी भर शेष रह गई थी। धर्मज्ञ अम्बरीष ने धर्मसंकट में पड़ कर ब्राह्मणों के साथ परामर्श किया। उन्होंने कहा – ब्राह्मण देवताओं! ब्राह्मण को विना भोजन कराये स्वयं खा लेना और द्वादशी रहते पारण न करना—दोनों ही दोष हैं। इसलिये इस समय जैसा करने से मेरी भलाई हो और मुझे पाप न लगे, ऐसा काम करना चाहिये। तब ब्राह्मणों के साथ विचार करके उन्होंने कहा—ब्राह्मणो! श्रुतियों में ऐसा कहा गया है कि जल पी लेना भोजन करना भी है, नहीं भी करना है। इसलिये इस समय केवल जल से पारण किये लेता हूँ। ऐसा निश्चय करके मन ही मन भगवान् का चिन्तन करते हुए राजर्षि अम्बरीष ने जल पी लिया और परीक्षित! वे केवल दुर्वासा जी के आने की बाट देखने लगे। दुर्वासा जी आवश्यक कर्मों से निवृत्त होकर यमुना तट से लौट आये। जब राजा ने आगे बढ़ कर उनका अभिनन्दन किया तब उन्होंने अनुमान से ही समझ लिया कि राजा ने पारण कर लिया है। उस समय दुर्वासा जी वहुत भूखे थे। इसलिये यह जान कर कि राजा ने पारण कर लिया है वे क्रोध से थर-थर कांपने लगे। भौहों के चढ़ जाने से उनका मुंह विकट हो गया। उन्होंने हाथ जोड़ कर खड़े अम्बरीष से डांट कर कहा। 'अहो! देखो तो सही, यह कितना क्रूर है! यह धन के मद में मतवाला हो रहा है। भगवान् की भक्ति तो इसे छू तक नहीं गयी और यह अपने को बड़ा समर्थ मानता है। आज इस ने धर्म का उल्लङ्घन करके बड़ा अन्याय किया है। देखो, मैं इस का अतिथि हो कर आया हूं। इसने अतिथिसत्कार करने के लिये मुझे निमन्त्रण भी दिया है, किन्तु फिर भी मुझे खिलाये विना ही खा लिया है। अच्छा देख, तुझे अभी इस का फल चखाता हूं'। यों कहते-कहते वे क्रोध से जल उठे। उन्हों ने अपनी एक जटा उखाड़ी और उस से अम्बरीष को मार डालने के लिये एक कृत्या उत्पन्न की। वह प्रलयकाल की आग के समान दहक रही थी। वह आग के समान जलती हुई, हाथ में तलवार लेकर राजा अम्बरीष पर टूट पड़ी। उस समय उस के पैरों की धमक से पृथ्वी

कांप रही थी। परन्तु राजा अम्बरीष देखकर उससे तनिक भी विचलित नहीं हुए। वे एक पग भी नहीं हटे, ज्यों-के-त्यों खड़े रहे। परम पुरुष परमात्मा ने अपने सेवक की रक्षा के लिये पहले से ही सुदर्शन चक्र को नियुक्त कर रक्खा था। जैसे आग क्रोध से गुर्राते हुए सांप को भस्म कर देती है, वैसे ही चक्र ने दुर्वासा जी की कृत्या को जला कर राख का ढेर कर दिया। जब दुर्वासा जी ने देखा कि मेरी बनाई हुई कृत्या तो जल रही है और चक्र मेरी ओर आ रहा है, तब वे भयभीत हो अपने प्राण बचाने के लिये जी छोड़ कर एकाएक भाग निकले। जैसे ऊँची-ऊँची लपटों वाला दावानल सांप के पीछे दौड़ता है, वैसे हो भगवान् का चक्र उन के पीछे-पीछे दौड़ने लगा। जब दुर्वासा जी ने देखा कि चक्र तो मेरे पीछे लग गया है, तब सुमेरु पर्वत की गुफा में प्रवेश करने के लिये वे उसी ओर दौड़ पड़े। दुर्वासा जी दिशा, आकाश, पृथ्वी, अतल-वितल आदि नीचे के लोक, समुद्र, लोकपाल और उन के द्वारा सुरक्षित लोक एवं स्वर्ग तक में गये, परन्तु जहां-जहां वे गये, वहीं-वहीं उन्होंने असह्य तेज वाले सुदर्शन चक्र को अपने पीछे लगा देखा। जब उन्हें कहीं भी कोई रक्षक न मिला, तब तो वह और भी डर गये। अपने लिये त्राण ढूंढते हुए वे देवशिरोमणि ब्रह्मा जी के पास गये और बोले—ब्रह्मा जी ! आप स्वयम्भू हैं। भगवान् के इस तेजोमय चक्र से मेरी रक्षा कीजिये। ब्रह्मा जी ने कहा जब मेरी दो परार्ध की आयु समाप्त होगी और कालस्वरूप भगवान् अपनी यह सृष्टि-लीला समेटने लगेंगे और इस जगत् को जलाना चाहेंगे उस समय उन के भ्रूभङ्ग-मात्र से यह सारा संसार और मेरा यह लोक भी लीन हो जायगा। मैं, शंकर जी दक्षभृगु आदि प्रजापति, भूतेश्वर, देवेश्वर आदि सब जिनके बनाये नियमों में बंधे हैं तथा जिन की आज्ञा शिरोधार्य करके हम लोग संसार का हित करते हैं, उन के भक्त के द्रोही को बचाने के लिये हम समर्थ नहीं हैं। जब ब्रह्मा जी ने इस प्रकार दुर्वासा को निराश कर दिया, तब भगवान् के चक्र से सन्तप्त हो कर वे कैलास वासी भगवान् शंकर की शरण में गये। श्री महादेव जी ने कहा—'दुर्वासा जी ! जिन अनन्त परमेश्वर में ब्रह्मा जैसे जीव और उन के उपाधिभूत कोश, इस ब्रह्माण्ड के समान ही अनेकों ब्रह्माण्ड समय पर पैदा होते हैं और समय आने पर फिर उन का पता भी नहीं चलता, जिन में हमारे जैसे हज़ारों चक्कर काटते रहते हैं—उन प्रभु के सम्बन्ध में हम कुछ भी करने की सामर्थ्य नहीं रखते। मैं, सनत्कुमार, नारद, भगवान् ब्रह्मा, कपिलदेव, अपान्तरतम, देवता, धर्म, आसुरि तथा मरीचि आदि दूसरे सर्वज्ञ सिद्धेश्वर—ये हम सभी भगवान् की माया को नहीं जान सकते। क्योंकि हम उसी माया के घेरे में हैं। यह चक्र उन विश्वेश्वर का शस्त्र है। यह हम लोगों के लिये असह्य है। तुम उन्हीं की शरण में

जाओ। वे भगवान् ही तुम्हारा मंगल करेंगे। वहां से भी निराश होकर दुर्वासा भगवान् के परमधाम वैकुण्ठ में गये। लक्ष्मीपति भगवान् लक्ष्मी के साथ वहीं निवास करते हैं। दुर्वासा जी भगवान् के चक्र की आग से जल रहे थे। वे कांपते हुए भगवान् के चरणों में गिर पड़े। उन्हों ने कहा—'हे अच्युत ! हे अनन्त ! आप सन्तों के एक मात्र वाञ्छनीय हैं। प्रभो ! विश्व के जीवनदाता ! मैं अपराधी हूं। आप मेरी रक्षा कीजिये। आप का परम प्रभाव न जानने के कारण ही मैंने आप के प्यारे भक्त का अपराध किया है। प्रभो ! आप मुझे उस से बचाइये। आप के तो नाम का ही उच्चारण करने से नारकीय जीव भी मुक्त हो जाता है। श्री भगवान् ने कहा—दुर्वासा जी ! मैं सर्वथा भक्तों के अधीन हूं। मुझ में तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है। मेरे सीधे साधे सरल भक्तों ने मेरे हृदय को अपने हाथ में कर रखा है। भक्तजन मुझ से प्यार करते हैं और मैं उन से। ब्रह्मन् ! अपने भक्तों का एक मात्र आश्रय मैं ही हूं। इसलिये अपने साधुस्वभाव भक्तों को छोड़ कर मैं न तो अपने-आप को चाहता हूं और न अपनी अर्द्धाङ्गिनी विनाशरहित लक्ष्मी को। जो भक्त स्त्री, पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सब को छोड़ कर केवल मेरी शरण में आ गये हैं, उन्हें छोड़ने का संकल्प भी मैं कैसे कर सकता हूँ ? जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्य से सदाचारी पति को वश में कर लेती है, वैसे ही मेरे साथ अपने हृदय को प्रेमबन्धन से बांध रखने वाले समदर्शी साधु भक्ति के द्वारा मुझे अपने वश में कर लेते हैं। मेरे अनन्य प्रेमी भक्त सेवा से ही अपने को परिपूर्ण-कृतकृत्य मानते हैं। मेरी सेवा के फल स्वरूप जब उन्हें सालोक्य-सारूप्य आदि मुक्तियां प्राप्त होती हैं, तब वे उन्हें भी स्वीकार करना नहीं चाहते; फिर समय के फेर से नष्ट हो जाने वाली वस्तुओं की तो बात ही क्या है। दुर्वासा जी ! मैं आप से और क्या कहूं, मेरे प्रेमी भक्त तो मेरे हृदय हैं और उन प्रेमी भक्तों का हृदय स्वयं मैं हूं। वे मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते तथा मैं उन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता। दुर्वासा जी ! सुनिये, मैं आप को एक उपाय बताता हूं। जिस का अनिष्ट करने से आप को इस विपत्ति में पड़ना पड़ा है, आप उसी के पास जाइये। निरपराध साधुओं में अनिष्ट की चेष्टा से अनिष्ट करने वाले का ही अमङ्गल होता है। इस में सन्देह नहीं कि ब्राह्मणों के लिये तपस्या और विद्या परम कल्याण के साधन हैं। परन्तु यदि ब्राह्मण उद्दण्ड और अन्यायी हो जाय, तो वे ही दोनों उलटा फल देने लगते हैं। दुर्वासा जी ! आप का कल्याण हो। आप नाभागनन्दन परमभाग्यशाली राजा अम्बरीष के पास जाइये और उन से क्षमा मांगिये, तब आप को शान्ति मिलेगी।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—परीक्षित ! जब भगवान् ने इस प्रकार आज्ञा दी,

तब सुदर्शन चक्र की ज्वाला से जलते हुए दुर्वासा लौट कर राजा अम्बरीष के पास आये और उन्होंने अत्यन्त दुःखी होकर राजा के पैर पकड़ लिये। दुर्वासा जी की यह चेष्टा देखकर और चरण पकड़ने से लज्जित होकर राजा अम्बरीष भगवान् के चक्र की स्तुति करने लगे। उस समय उन का हृदय दयावश अत्यन्त पीड़ित हो रहा था। अम्बरीष ने कहा—प्रभो ! सुदर्शन ! आप अग्निस्वरूप हैं। आप ही परम समर्थ सूर्य हैं। समस्त नक्षत्रमण्डल के अधिपति चन्द्रमा भी आप के स्वरूप हैं। जल, पृथ्वी, आकाश, वायु, पञ्चतन्मात्रा और सम्पूर्ण इन्द्रियों के रूप में भी आप ही हैं। भगवान् के प्यारे, हज़ार दांत वाले चक्रदेव ! मैं आप को नमस्कार करता हूँ। समस्त अस्त्र-शस्त्रों को नष्ट कर देने वाले एवं पृथ्वी के रक्षक ! आप इन ब्राह्मण की रक्षा कीजिये। आप ही धर्म हैं, मधुर एवं सत्य वाणी हैं; आप ही समस्त यज्ञों के अधिपति और स्पयं यज्ञ भी हैं। आप समस्त लोकों के रक्षक एवं सर्वलोकस्वरूप भी हैं। आप परम पुरुष परमात्मा के श्रेष्ठ तेज हैं। सुनाम ! आप समस्त धर्मों की मर्यादा के रक्षक हैं। अधर्म का आचरण करने वाले असुरों को भस्म करने के लिये आप साक्षात् अग्नि हैं। आप ही तीनों लोकों के रक्षक एवं विशुद्ध तेजोमय हैं। आप की गति मन के वेग के समान है और आप के कर्म अद्भुत हैं। मैं आप को नमस्कार करता हूँ, आप की स्तुति करता हूं। वेदवाणी के अधोश्वर ! आप के धर्ममय तेज से अन्धकार का नाश होता है और सूर्य आदि महा-पुरुषों के प्रकाश की रक्षा होतो है। आप की महिमा का पार पाना अत्यन्त कठिन है। ऊंचे-नीचे और छोटे-बड़े के भेद-भाव से युक्त यह समस्त कार्य कारणात्मक संसार आप का ही स्वरूप है। सुदर्शनचक्र ! आप पर कोई विजय नहीं प्राप्त कर सकता। जिस समय निरंजन भगवान् आप को चलाते हैं और आप दैत्य एव दानवों की सेना में प्रवेश करते हैं उस समय युद्ध भूमि में उनकी भुजा, उदर, जंघा, चरण और गर्दन आदि निरन्तर काटते हुए आप अत्यन्त शोभायमान होते हैं। विश्व के रक्षक ! आप रणभूमि में सब का प्रहार सह लेते हैं,. आप का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। गदाधारी भगवान् ने दुष्टों के नाश के लिये ही आप को नियुक्त किया है। आप कृपा करके हमारे कुल के भाग्योदय के लिये दुर्वासा जी का कल्याण कीजिये। हमारे ऊपर यह आपका महान् अनुग्रह होगा। यदि मैंने कुछ भी दान किया हो, यज्ञ किया हो अथवा अपने धर्म का पालन किया हो, यदि हमारे वंश के लोग ब्राह्मणों को ही अपना आराध्य देव समझते रहे हों, तो दुर्वासा जी की जलन मिट जाए। भगवान् समस्त गुणों के एक मात्र आश्रय हैं। यदि मैंने समस्त प्राणियों के आत्मा के रूप में उन्हें देखा हो और वे मुझ पर प्रसन्न हों तो दुर्वासा जी के हृदय की सारी जलन मिट जाये। शुकदेव जी कहते हैं - जब राजा अम्बरीष

ने दुर्वासा जी को सब ओर से जलाने वाले भगवान् के सुदर्शन चक्र की इस प्रकार स्तुति की, तब उनकी प्रार्थना से चक्र शांत हो गया। जब दुर्वासा चक्र की आग से मुक्त हो गये और उनका चित्त स्वस्थ हो गया, तब वे राजा अम्बरीष को अनेकानेक उत्तम आशीर्वाद देते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे। दुर्वासा जी ने कहा—धन्य है! आज मैंने भगवान् के प्रेमी भक्तों का महत्व देखा। राजन्! मैंने आप का अपराध किया, फिर भी आप मेरे लिये मंगल-कामना ही कर रहे हैं। जिन्होंने भक्तवत्सल भगवान् श्रीहरि के चरणकमलों को दृढ़ प्रेमभाव से पकड़ लिया है—उन साधु पुरुषों केलिये कौनसा कार्य कठिन है? जिनका हृदय उदार है, वे महात्मा भला किस वस्तु का परित्याग नहीं कर सकते? जिन के मंगलमय नामों के श्रवणमात्र से जीव निर्मल हो जाता है—उन्हीं तीर्थपाद भगवान् के चरणकमलों केजो दास हैं, उनके लिये कौनसा कर्तव्य शेष रह जाता है? महाराज अम्बरीष! आप का हृदय करुणाभाव से परिपूर्ण है। आप ने मेरे ऊपर महान् अनुग्रह किया। अहो, आप ने मेरे अपराध को भुला कर मेरे प्राणों की रक्षा की है। परीक्षित! जब से दुर्वासा जी भागे थे, तब से अब तक राजा अम्बरीष ने भोजन नहीं किया था। वे उनके लौटने की बाट देख रहे थे। अब उन्होंने दुर्वासा जी के चरण पकड़ लिये और उन्हें प्रसन्न करके विधिपूर्वक भोजन कराया। राजा अम्बरीष बड़े आदर से अतिथि के योग्य सब प्रकार की भोजन-सामग्री ले आये। दुर्वासा जी भोजन करके तृप्त हो गये। अब उन्होंने आदर से कहा—'राजन्! अब आप भी भोजन कीजिये। अम्बरीष! आप भगवान् के परम प्रेमी भक्त हैं। आप के दर्शन, स्पर्श, बातचीत और मन को भगवान् की ओर प्रवृत्त करने वाले आतिथ्य से मैं अत्यन्त प्रसन्न और अनुगृहीत हुआ हूं। स्वर्ग की देवाङ्गनाएं बार-बार आप के इस उज्ज्वल चरित्र का गान करेंगी। यह पृथ्वी भी आपकी परम पुण्यमयी कीर्ति का संकीर्तन करती रहेगी। श्रीशुकदेव जी कहते हैं—दुर्वासा जी ने बहुत ही सन्तुष्ट होकर राजा अम्बरीष के गुणों की प्रशंसा की और उसके बाद उन से अनुमति लेकर आकाशमार्ग से उस ब्रह्म लोक की यात्रा की, जो केवल निष्काम कर्म से ही प्राप्त होता है। परीक्षित! जब सुदर्शन चक्र से भयभीत होकर दुर्वासा जी भागे थे, तब से लेकर उनके लौटने तक एक वर्ष का समय बीत गया। इतने दिनों तक राजा अम्बरीष उनके दर्शन की आकाङ्क्षा से केवल जल पीकर ही रहे। जब दुर्वासा जी चले गये, तब उनके भोजन से बचे हुए अत्यन्त पवित्र अन्न का उन्होंने भोजन किया। अपने कारण से दुर्वासा जी का दुःख में पड़ना और फिर अपनी ही प्रार्थना से उनका छूटना—इन दोनों बातों को उन्होंने अपने द्वारा होने पर भी भगवान् की ही महिमा समझा। राजा अम्बरीष में ऐसे-ऐसे अनेकों गुण थे। अपने समस्त

कर्मों के द्वारा वे परब्रह्म परमात्मा श्रीभगवान् में भक्तिभाव की अभिवृद्धि करते रहते थे। उस भक्ति के प्रभाव से उन्होंने ब्रह्मलोक तक के समस्त भोगों को नरक के समान समझा। तदनन्तर राजा अम्बरीष ने अपने ही समान भक्त पुत्रों पर राज्य का भार छोड़ दिया और स्वयं वे वन में चले गये। वहां वे बड़ी धीरता के साथ आत्मस्वरूप भगवान् में अपना मन लगा कर गुणों के प्रवाहरूप संसार से मुक्त हो गये। परीक्षित! महाराज अम्बरीष का यह परम पवित्र आख्यान है। जो इस का संकीर्तन और स्मरण करता है, वह भगवान् का भक्त हो जाता है।

भगवान् कृष्ण

महान् राजनीतिज्ञ और प्रजातन्त्रवादी

—धर्म चन्द्र 'प्रशान्त'

महाभारत के अनुशासन पर्व में एक वर्णन आता है कि युधिष्ठिर ने वाणशय्या पर पड़े पितामह भीष्म से पूछा कि इस युग में गणराज्य क्यों असफल हो रहे हैं ? उन्होंने उत्तर में कहा कि राजतन्त्र में एक व्यक्ति का शासन है परन्तु गणराज्य में सभी अपने को शासक मानते हैं। इसको असफलता का मूल कारण यही है।

भीष्म की उक्ति आज भी चरितार्थ हो रही है। इस युग में प्रजातन्त्रवादी अपने आप को शासक ही मानते हैं।

महाभारत में राजतन्त्र सुदृढ़ और शक्तिशाली था। राजा को ईश्वर का दर्जा मिल चुका था, उस समय भगवान् कृष्ण एक मात्र लोकतन्त्रवादी थे। इसका उन्होंने प्रचार तो किया नहीं परन्तु क्रियात्मक रूप में वे प्रत्यक्ष प्रजातन्त्रवाद के अनुयायी थे। राजसत्ता का उन्होंने बाल्यकाल में विरोध किया और लोगों को रूढ़ि-प्रथा को त्याग कर नई दिशा की ओर ले जाने में वे समर्थ हुए।

व्रज में प्रतिवर्ष इन्द्र देवता का पूजन होता था। उस समय सभी नर-नारी एकत्रित होकर इन्द्र का पूजन करते थे। एक सत्ताधारी व्यक्ति का पूजन उन्हें अखरा। उन्होंने गोप-गोपियों को कहा कि इन्द्र को क्यों प्रसन्न करते हो आप ? हमारे पशु गोवर्धन पर्वत पर चरते हैं। वह हमें घास देता है, औषधियें प्रदान करता है। क्यों न उसका ही पूजन किया जाए। कइयों ने आपत्ति की और कहा कि ऐसा करने पर हमें इन्द्र के कोप का भाजन बनना पड़ेगा। परन्तु युवा वर्ग ने अपने सखा नेता का साथ दिया। सभी ने इन्द्र को छोड़कर गोवर्धन पर्वत की पूजा की। इस पर इन्द्र कुपित हुआ अवश्य, परन्तु उसे पराजित होना पड़ा। उस दिन से सत्ता के आगे झुकना बन्द हुआ। यद्यपि वह शिशु का हठ था परन्तु

आज हम इस को बड़ा महत्व देते हैं। राज्यसत्ता के विरुद्ध उनका प्रथम संघर्ष था वह।

मथुरा के क्रूर शासक कंस का वध राजतन्त्र की समाप्ति करना था। उसके साथ कई सत्ताधारी राक्षसों का मद चूर किया। कंस को मारने के उपरान्त वे स्वयं राजा बन सकते थे परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने उग्रसेन को राजा बनाया परन्तु वह एक सत्ता रहित शासक ही था। उसके उपरान्त वे द्वारिका चले गये और यादवों को साथ ले गये। वहां भी उन्होंने नरेश की पदवी ग्रहण नहीं की। द्वारिका गणराज्य ही रहा।

श्री मद्भागवत में भगवान् कृष्ण का बाल्यकाल का बड़े सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है। वे ग्वालों में एक सखा की तरह रहे। कभी भी उन्हों ने नहीं बतलाया कि नन्दमहर के वे एक मात्र पुत्र हैं और अन्य ग्वालों से उनका दर्जा ऊपर है। बड़प्पन की भावना उन में तनिक भी नहीं थी।

भगवान् कृष्ण का स्नेह कौरवों की अपेक्षा पाण्डवों से अधिक था, दुर्योधन सत्ता और प्रभुत्व में विश्वास रखता था। उन की उस के साथ एक दिन के लिये भी नहीं पटी। उन्होंने प्रतिक्षण पाण्डवों को प्रश्रय दिया और बराबर उनकी सहायता करते रहे।

एक ओर तो उन्होंने कालयवन एक विदेशी को मारा और दूसरी ओर जरासन्ध को मरवाया। उत्तरी भारत में जरासन्ध ने एक सशक्त राज्य स्थापित कर लिया था। उसका वध राज्यसत्ता के प्रति बड़ा भारी विद्रोह था उन का। ज़रासन्ध के रणवास में बड़ी भारी संख्या में स्त्रियें थीं। उस के मरने के बाद वे भगवान् को मिलीं और कहा कि हमारा क्या होगा? हम कहां जाएंगी और कौन हमें आश्रय देगा? कृष्ण ने उन को आश्रय दिया और अपना लिया। यह उनका महान् कार्य था। वे स्त्रियें समाज में परित्यक्त हो जातीं परन्तु उन्हों ने अपना लिया। यह कोई साधारण बात नहीं थी।

युधिष्टिर ने राजसूय यज्ञ किया। उस में कौरव भी सम्मिलित हुए। सभी को कार्यभार सौंपा गया। किसी के पास कोष-भण्डार आया, किसी के पास कुछ, परन्तु भगवान् ने उस यज्ञ में जो कार्य लिया उसे कोई भी लेने को तैयार नहीं था। वह था अतिथियों की जूठी पत्तलों को उठाना और फैंकना। इस से भगवान् की प्रतिष्ठा को तनिक भी नुकसान नहीं हुआ। उसी यज्ञ में प्रस्ताव आया कि समस्त अतिथियों में किसी एक को चुना जाय और उसे उच्च स्थान दिया जाय। पितामह भीष्म ने इस पदवी के लिये कृष्ण को ही उपयुक्त समझा और यज्ञ में सर्वश्रेठ

व्यक्ति वही घोषित किये गए। राजसूय यज्ञ के उपरान्त द्यूतक्रीड़ा में पराजित पाण्डवों को १३ वर्ष बनवास जाना पड़ा, वहां उनका भगवान् कृष्ण से सम्पर्क घट सा गया परन्तु वनवास की अवधि काटने के उपरान्त उन्हें अपने प्रिय बन्धुओं से पुनः मिलने का अवसर मिला। महाभारत के उद्योग पर्व में उनका राजनीति के गहन अध्ययन और परिपक्व विचारधारा का पता चलता है।

पाण्डवों को पता लग गया कि दुर्योधन उन्हें कुछ भी देने को तैयार नहीं है। इस पर विचार करने के लिये पाण्डवों ने एक सभा बुलाई जिसमें सबसे अधिक महत्व का भाग भी कृष्ण का था। प्रस्ताव था कि यदि दुर्योधन उन्हें कुछ नहीं देता तो युद्ध किया जाए। युद्ध करने में पांडवों भाइयों में उचित उत्साह नहीं था। यदि कोई युद्ध के लिये उतावला था तो वह द्रोपदी थी। उसने अपने खुले वालों को उन्हें दिखलाते हुए कहा था कि यदि युद्ध नहीं हुआ और जैसे उसके पांचों पतियों ने पांच गांवों की ही मांग की है तो मेरे महान् संकल्प और प्रण का क्या होगा ?

श्रीकृष्ण ने उसे समझाया और कहा कि युद्ध तो अनिवार्य है परन्तु औपचारिक रूप में राजनैतिक धारणाओं को निभाना पड़ता है। उस सभा में उन्होंने राजनीति के प्रत्येक पहलू की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया। यदि युद्ध न किया तो क्या होगा और हो जाने से उन्हें क्या प्राप्त होगा और क्या नहीं। उन्हें दूत बना कर हस्तिनापुर में दुर्योधन के पास भेजा गया। वहां कौरवराज से उनका जो वार्तालाप हुआ और जो कुछ उन्होंने समझाया उससे उनकी राजनीति की दक्षता का पूरा परिचय मिलता है। उन्होंने एक दूत के नाते अपना कर्त्तव्य बड़े धैर्य और निष्पक्ष रूप से निभाया। कौरवसभा में उन्होंने दुर्योधन को राजधर्म की प्रत्येक दिशा से अवगत कराया परन्तु वह समझा नहीं। उल्टे उसने उन्हें फांसने के लिये जाल बिछाया जिस से वे साफ बच निकले। हस्तिनापुर में राजप्रासाद में नहीं ठहरे और विदुर के घर चले गये। वह उनके उच्च वर्ग से दूर रहने का परिचय देता है।

युद्ध आरम्भ होने से पूर्व उन्होंने अपने निष्पक्ष रहने की घोषणा कर दी थी। उनकी सहायता पाण्डवों को भी चाहिये थी और कौरवों को भी। दुर्योधन और अर्जुन दोनों उनके निवास में चले गये। उस समय कृष्ण सो रहे थे। दुर्योधन उन के सिरहाने की ओर और अर्जुन पांवों के निकट बैठ गये। उठते ही पहले भगवान् की दृष्टि अर्जुन पर पड़ी और फिर दुर्योधन। दोनों ने सहायता मांगी। श्रीकृष्ण ने कहा एक ओर मेरी सेना है और दूसरी ओर मैं अकेला, और मैं शस्त्र भी नहीं उठाऊँगा। इनमें जिसे जो चाहिये मांग ले। परन्तु पहले अर्जुन

मांगेंगे क्योंकि उन्हें मैंने प्रथम देखा है उठते समय। अर्जुन ने कहा—"मुझे तो आप की आवश्यकता है, सेना की नहीं। जिसकी ओर कृष्ण होंगे उसी की जय होगी।"

युद्ध में वे अर्जुन के सारथी बने। पहले ही दिन अर्जुन को अपने बन्धु-बांधवों का मोह हो गया। उसे हटाने के लिये उन्हें गीता सुनानी पड़ी। गीता में दर्शन है, भक्ति है और है कर्म योग, परन्तु तीनों को मिला कर गीता बुद्धिवाद का ग्रंथ है। गीता में राजनीति भी है और प्रत्येक राजनीतिज्ञ के लिये गीता समझना आवश्यक है।

युद्ध में पग-पग पर भगवान् के परामर्श की आवश्यकता पड़ रही थी पाण्डवों को। कर्ण के पास पाण्डवों को मारने के लिये पांच बाण थे उन्हें लेने के लिये कुन्ती को भेजा। कर्ण के शरीर पर कवच और कानों में जन्म से ही कुण्डल थे जिन के कारण वह अजेय था। भगवान् ने ब्राह्मण का रूप धारण करके इन्हें स्वयं मांग लिया। कर्ण के पास अर्जुन को मारने के लिये अमोघ शक्ति थी उसे भीमसुत घटोत्कच पर चलाने के लिये बाध्य किया।

श्रीकृष्ण ने पाण्डवों और अपने मित्र अर्जुन को प्रत्येक दिशा में निर्भय किया। वे उसे शिवलोक ले गये, वहाँ उसे शिव से पाशुपत अस्त्र दिलवाया जिस के चलाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। भीष्म की मृत्यु उसके हाथ में थी। अर्जुन के आगे शिखण्डी को करवा कर बाणवर्षा करना और भीष्म का शस्त्रत्याग और बाणशय्या पर शयन और अश्वत्थामा नामक हाथी के मरने के समाचार को खण्डित करके गुरु द्रोणाचार्य को युधिष्ठिर द्वारा सुनवाना और उससे शस्त्रत्याग करवाना भगवान् की चतुर राजनीति का ही फल था। युद्ध में चलाई राजनीति में वे कहीं भी असफल नहीं हुए, केवल अभिमन्यु का ही उन्हें पश्चात्ताप रहा। परन्तु अर्जुन को शोक पर सान्त्वना देते समय उन्होंने इसे विधि का विधान बतलाया।

भगवान् का अन्तिम समय राजनीति से पूर्ण था। वे स्वर्ग जाने की सोच रहे थे। उसी समय यादवों में घोर कलह मची। सभी कट मर गये। वे चाहते तो यह नहीं होने देते परन्तु राजनैतिक दृष्टिकोण से उनका मरना ही उचित था। उन्होंने उसे रोका नहीं।

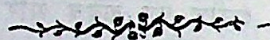
वह वटवृक्ष के नीचे लेटे हुए थे। वहां वे भील के तीर से घायल हो गये। जब वे शरीर छोड़ने लगे तो उनके सारथी ने पूछा कि क्या वे फिर कलियुग में लौटेंगे? उनके "नहीं" कहने पर उसने पूछा कि अर्जुन को तो आपने कहा था कि जब जब पाप छा जाएगा मैं जन्म लूंगा। भगवान् ने कहा—कलियुग में जब प्रजा में अधर्म आ जाएगा तो मैं राजा के अन्दर आकर पाप का नाश करुंगा परन्तु यदि

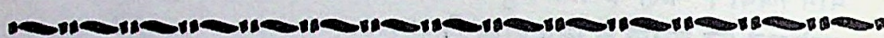
राजा ही दुराचारी हो जाएगा तो मैं प्रजा में आकर शासक का संहार करूंगा। यह बात आज भी चरितार्थ हो रही है।

भगवान् कृष्ण का समस्त जीवन एक सीधे शिक्षक और राजनीतिज्ञ का जीवन था। प्रत्येक घटना जो उनके साथ घटी, राजनीति से भरी थी।

श्रीकृष्ण ने सुदामा के साथ जो व्यवहार किया, उससे उनके समाजवादी होने का प्रमाण भी मिलता है। एक निर्धन व्यक्ति के स्तर को उन्नत करना और उसके चरण धोना कोई साधारण बात नहीं है।

इन बातों से उनके अन्दर समाजवाद और प्रजातन्त्रवाद की भावना के होने का पता भी चलता है।





मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई।
दूसरा न कोई साधो सकल लोक जोई॥
भाई छोड़या, बंधु छोड़या, छोड़या सगा सोई।
साध संग बैठ-बैठ लोक लाज खोई॥
भगत देख राजी हुई, जगत देख रोई।
अंसुवन जल सींचि-सीचि प्रेम बेल बोई॥
दधि मथ घृत काढ़ लियो, डार देई छोई।
राणा विष को प्याला भेज्यो पीय मग्न होई॥
अब तो बात फैल पड़ी, जानत सब कोई।
'मीरां' राम लगन लागी होणी, होय सो होई॥



हिन्दी के मुसलमान कृष्णभक्त कवि

—डा० मुहम्मद अयूब खां 'प्रेमी'

हिन्दीसाहित्य के इतिहास में कृष्ण-काव्य-धारा के प्रवर्त्तक भक्तिकाल के महाकवि सूरदास माने जाते हैं लेकिन वास्तविकता यह है कि आदि काल में ही कृष्ण-काव्य-धारा प्रवाहित हो रही थी। इस की उपधाराएं हैं—(१) राधा-कृष्ण की वैष्णव-परम्परा के भक्तिगीत जो स्तुतिमूलक, उपदेशपरक तथा सरस लीलात्मक हैं; (२) नाथसिद्ध परम्परा से प्रभावित गोविन्द तथा विट्ठल के स्तवनगान जिन में निर्गुणगान तथा सगुणवाद का कोई विभेद-विरोध नहीं, अपितु समन्वय था। (३) जैन दृष्टिकोण से लिखे गये कृष्णचरित (४) शुद्ध शृंगारिक और काव्यशास्त्रीय दृष्टि से लिखे गये कृष्ण काव्य (५) सूफीपरक अर्थों का व्यंजक कृष्णकाव्य जिनका संकेत मीर अब्दुल वाहिद बिलग्रामी के 'हकायके हिन्दी' जैसे ग्रन्थों में मिलता है। ख्वाजा गेसूदराज, अमीर खुसरो, सैयद मुहम्मद हुसेनी ऐसे ही कवि हैं जिन्होंने सूफीपरक अर्थों का व्यंजक कृष्ण काव्य रचा है। उनके बाद सूफियों ने कृष्णलीला का खुल कर प्रयोग किया है और मुसलमानों के समक्ष सूफीयतपरक व्याख्या भी की है। कृष्ण हज़रत मुहम्मद साहब के लिए, ब्रज और गोकुल क्रमशः आलमे नासूत तथा आलमे जबरूत के लिए प्रयुक्त बताये गये हैं।

जहां तक वेदान्त और सूफीयत का पारस्परिक सम्बन्ध है वहां कई तथ्य समान मिल जाते हैं। हदीस पाक में कहा गया हैं कि "गोपन स्थिति में अकेले न रह सकने के कारण अल्लाह ने आत्मप्रकाश के लिए सृष्टि की :- कुंतो कजन मरवफियन फउहु ववतों अन ओंरफा फकल कतुल खल्कम्। यहाँ 'एकोऽहं बहु स्याम' की ही स्थिति है। इब्ले अराबी का 'हमाऊस्त' (वह ही सब कुछ है) वेदान्त के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' से भिन्न नहीं है। सूफियों के अनुसार भी जीव और अल्लाह एक ही हैं—अनअल हक़। सूफीयत में भी द्वैत सदैव अद्वैत में पर्यवसित हो जाता है। सौन्दर्य के द्वारा प्रेम तक पहुंच होती है और प्रेम के द्वारा मिलन के लक्ष्य को

प्राप्त किया जाता है। सूफियों का साध्य निस्सीम सौन्दर्य, निस्सीम प्रेम और निस्सीम मिलन है। यही आधार है जिससे मुसलमान कवि भक्ति के क्षेत्र में कृष्ण के प्रति आकर्षित हुए हैं।

जायसी ऐसे सर्वप्रथम कवि हैं जिन्होंने कृष्ण-काव्य-धारा के प्रथम महाकाव्य 'कन्हावत' की रचना की है। इस महाकाव्य की रचना हुमायूं के शासन-काल में हुई है। आरम्भ में कवि ने ईश्वर-स्तुति, सृष्टि के आरम्भ तथा उसके प्रसार के सम्बन्ध में कहते हुए बताया है कि ईश्वर ने हजरत मुहम्मद साहब की प्रीति के लिए ही इस सृष्टि को सजाया है—

ओहि कें प्रीति सबहि जग साजा,
बरन बरन सब कहं उपराजा।

इसके पश्चात् वेद व्यास का पुण्य स्मरण किया है—

प्रनवौं वेद व्यास कै चरनां,
जिन्ह हरि चरित सविस्तर वरनां।
हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता,
गावहिं वेद भागवत सन्ता।
सुनेहु पढ़ेहु भागवत पुराना,
पाएउ प्रेम-पंथ संधाना।
अइसन प्रेम-कहानी, दूसर जग महं नाहिं।
तुरकी, अरबी, फारसी, सब देखेऊ अवगाहिं॥

रेखांकित पंक्तियों की ध्वनि बाद में तुलसीकृत रामचरितमानस में इस प्रकार सुनाई देती है—

हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता।
कहहिं सुनहिं बहुविधि सब सन्ता॥

—बालकाण्ड १४०-३।

जायसी ने कन्हप्रिया को (राधा-राहा-राह-राहि) राहि के नाम से रासलीला वाले प्रसंग में दिखाया है जहाँ वे सम्पूर्ण सृष्टि को विराट रास-नृत्य के रूप में देखते हैं—

नाचै धरती गगन बरम्हंडा,
सात अकास-पतार अखंडा।
चाँद रहा थिर नाचहिं तारा,
सुधि-बुधि भूलि नचै संसारा।

नाचै अगिन, पवन जल खेहा,
बिजुरी राहि, कान्ह जनु मेहा।

'जायसी भी पुष्टिमार्ग में आस्था रखते थे। 'पोषणं तदनुग्रहः' वाले दर्शन को वे भली भाँति जानते थे। कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टिः, के आधार पर ही उनका कथन है—

जगमंह रास कान्ह कै होई,
बिनु अनुगरह जान नहिं कोई।

जायसी ने इसी महाकाव्य में राधा-गोपियों का विरह-वर्णन भी भक्ति की सरसता के साथ किया है। सम्पूर्ण सृष्टि कृष्ण के विरह में व्याकुल दिखाई गई है। अकबर के शासन-काल में भक्ति का चरमोत्कर्ष प्रतीत होता है। अकबर के समान ही उनके फुफेरे भाई अब्दुर्रहीम खानखाना के धार्मिक विचार अत्यन्त सहिष्णु थे। वे महाकवि तुलसीदास के अभिन्न मित्र थे। वे धार्मिक सहिष्णुता के सम्बन्ध में अपना आदर्श इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

करूँ मैं सिजदः बुतों के आगे,
तू ऐ बिरहमन खुदा खुदा कर।

उनकी कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी कविता एक सच्चे हृदय के उद्गार के रूप में है। आराध्य श्रीकृष्ण का रूपवर्णन मदनाष्टक में इस प्रकार किया गया है—

कलित ललित माला वा जवाहर जड़ा था,
चपल चखन वाला चाँदनी में खड़ा था।
कटितट विच मेला पीत सेला नवेला।
अलि बन अलबेला यार मेरा नवेला।

कृष्ण के प्रति उनकी मधुरा भक्ति बहुत ही उत्कृष्ट कोटि की है। तलवार के धनी, अनुपम योद्धा, कुशल शासक और राजनीतिज्ञ रहीम खानखाना एक श्रेष्ठ भक्त भी थे। उनकी अनन्य भक्ति-भावना देखिये—

आउ पियारे मोहना, पलक झांपि तोहि लेऊं।
ना मैं देखों और को, ना तोहि देखन देऊँ॥
प्रीतम छवि नैनन बसी, पर छवि कहां समाइ।
भरी सराय रहीम लखि, आपु पथिक फिरी जाय॥

कृष्ण के प्रति विश्वास कितना अगाध था—

रहिमन कोऊ का करै, ज्वारी चोर लबार।
जो पति राखनहार है, माखन चाखन हार॥

यही नहीं, हृदय को छू लेने वाली कृष्ण-प्रेम की कलात्मक भावना निम्नलिखित पंक्तियों में किसी भी हिन्दू भक्तकवि से कम मार्मिक नहीं है—

कमलदलनैननि की उनमानि ।
बिसरत नाहिं सखी मो मन तें मंदमंद मुस्कानि ।
यह दसननि दुति चपलाहू ते महा चपल गमकानि ।
वसुधा की बस करी मधुरता, सुधा पगी बतरानि ।।
चढ़ी रही चितउन विसाल की मुकतमाल थहरानि ।
नत्य समय पीताम्बर हू की फहरि फहरि फहरानि ।।
अनुदिन श्री वृन्दावन वन ते आवन-आवन जानि ।
अब 'रहीम' चित ते न टरति है सकल स्याम की बानि ।।

जहांगीर के शासन-काल में रसखान प्रेमदेव कृष्ण की छवि देख कर दीवाने होते दिखाई देते हैं—"प्रेमदेव को छविहि लखि भये मियाँ रसखानि ।" पुष्टिमार्गी गोस्वामी बिट्ठलनाथ ने मुसलमान होते हुए भी इन्हें दीक्षा देकर भक्तिपथ पर अग्रसर कर दिया । कृष्ण के अनन्यप्रेमी इस कवि ने कृष्ण-भक्ति के सरस सवैयों की रचना करके हिन्दी-साहित्य को गौरव प्रदान किया है । एक ऐसा ही उदहारण देखिये—

मानुष हौं तो वही रसखानि, बसौं संग गोकुल गाँव के ग्वारन ।
जौ पशु हौं तो कहा बसु मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन ।।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरन्दर धारन ।
जो खग हों तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदंब की डारन ।।

यारीसाहब (सन् १६६८-१७२३ ई०) सूफी होते हुए भी हरि-भक्ति में आस्था रखते हैं । उनकी अलौकिक होली-क्रीड़ा का आनन्द लीजिए—

हौं तो खेलौं पियासंग होरी ।
दरस परस पतिव्रता पिय को छवि निरखति भइ बौरी ।
सोरह कला सम्पूरन देखौं, रवि ससि में इक ठौरी ।।
जब ते दृष्टि परो अविनासी लागो रूप ठगोरी ।
रसना रटति रहत निसिबासर नैन लगो यहि ठौरी ।।
कह यारी भक्ति करि हरि की, कोई कहे सो कहौ री ।।

यह आत्मा वास्तव में न हिन्दू है और न मुसलमान ही है । इस लिए ताज कुंवरि मुगलानी होते हुए भी मीरा की भांति सब कुछ त्याग कर केवल 'कृष्ण-प्रिया' बन जाती है । उस युग में एक मुसलमान नारी का प्रेम पर यह आत्मोत्सर्ग क्रान्ति

कारी ही माना जाएगा। प्रेम-विह्वल हृदय को इस सुन्दर भावना का मूल्यांकन कीजिए—

सुनो दिल जानो, मेरे दिल की कहानी तुम,
दस्त हो बिकानो, बदनामी भी सहूंगी मैं।
देव पूजा ठानी मैं, निमाज़ हौं भुलानी,
तजे क़लमा कुरान सारे गुननि गहूंगी मैं॥
स्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्ले दिए,
तेरे नेह दाग में निदाग ह्वै रहूंगी मैं।
नन्द के कुमार, कुरबाण ताणी सूरत पै,
हौं तो मुगलानी, हिन्दुवानी ह्वै रहूंगी मैं॥

१७ वीं शताब्दी के स्वच्छन्दतावादी मुसलमान कवि आलम बड़े ही भावुक कवि हुए हैं। शेख रंगरेजन के प्रति लौकिक प्रेम का प्रसंग तो प्रसिद्ध ही है लेकिन वे 'श्याम सनेही' नाम से कृष्ण के प्रति अपनी प्रेम-भावना पर आधारित काव्य-ग्रन्थ का प्रणयन भी कर सके हैं। कृष्ण के प्रति विरह की भावना में भक्ति का रूप बड़ा ही प्रभावक है :—

चन्द्र को चकोर देखे निसि दिन को न लेखे,
चन्द बिन दिन छबि लागत अँध्यारी है।
आलम कहत आली अलि फूल हेत चलै,
कांटे सी कटीली बेलि ऐसी प्रीति प्यारी है।
कारो कान्ह कहत गँवारी ऐसो लागत है,
मोहि वाकी स्यामताई लागति उज्यारी है।
मन की अटक कहां रूप को विचार कहां,
रीझिबो को पैंडो तहां बूझ कछु न्यारी है॥

१९ वीं शताब्दी के सूफी कवि शाह तोराब अली कलन्दर कृष्ण-काव्य-धारा के एक सशक्त गीतकार हैं। 'ठुमरियां तोराब की' नामक पुस्तक में भजनों का संग्रह है। यह भजनों का संग्रह ब्रजभाषा के माधुर्य से आपूरित है। इस में कृष्ण को सरस लीलाएं वर्णित हैं। होली के प्रसंग की एक ठुमरी देखिए जिस में आध्यात्मिक संकेत कितने सहज भाव से दर्शाए गये हैं :—

हां हां न मोको छेड़ कन्हैया हूँ तो दिनन की थोरी।
ब्रज मां एक हम ही बसत हैं और बहुत हैं सांवरी गोरी।
निकसी हूं आज मंदिर सों अपनी, सास नन्द की चोरी।

फेंक न लाल गुलाल बसन पर, ऊजर है, अब चूनर मोरी।
रंग सो जो बोरे न मोरी चुन्दरिया, खेलो न तोराब वही संग होरी ।।

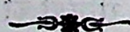
'तोराब' ने विप्रलम्भ श्रृंगार के माध्यम से जीवात्मा-परमात्मा के वियोग का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है :—

कान्ह कुंवर के कारन राधा, तन से भई पियरी दुबरी।
जब से सिधारे श्याम द्वारिका सूनी भई सब गोकुल नगरी।
रानी पुरानी भई वैरागिन राज करै नई नोखी कूबरी।
जर जर के मर मर के सखियां कूकत हैं दई काह करी।
किन्ह बेलहमायो 'तोराब' पिया को भूल गई जो सुध हमरी ।।

'तोराब' के काव्य में भक्ति का रहस्यवादी रूप तो मिलता ही है लेकिन साथ ही पुष्टिमार्ग और सूफी-सिद्धान्तों का समन्वय उसे निराला रूप प्रदान करता है। उनके मतानुसार वही जीवात्मा प्रीति की अधिकारिणी होती है जिस पर प्यारा अनुग्रह करता है :—

प्रीति करत है 'तोराब' वही संग किरपा जह पर करत है गोसैंयां।
हाथ गहे की लाज वही को, लागूं मैं आप गुरू की पैयां ।।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि भारत में शताब्दियों से मुसलमान कवियों ने यहां की मिली-जुली संस्कृति को समृद्ध करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। धर्म के आधार पर जो सहिष्णुता इनकी भावना में मिलती है, वह स्तुत्य है। जीवात्मा-परमात्मा का अद्वैत इन कवियों को हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए सदैव प्रेरित करता रहा है। आज के युग में इन कवियों का जीवन-दर्शन निश्चय ही पथ-प्रदर्शन का कार्य कर सकता है, ऐसा मेरा अटूट विश्वास है।



श्रीकृष्ण महाराज का नीतिमार्ग

—डा० रामप्रताप

भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र का सारा जीवन लोककल्याण के लिए समर्पित था। उन्होंने अपने जन्मकाल से ही अनेक संकटों का सामना किया था और उनकी देह का अवसान भी वीरों की तरह हुआ। जन्म के समय ये कंस के कारागार में थे और जीवन का अन्त व्याध के तीर की नोक के पैर में लगने पर हुआ। अपने सारे जीवन में उन्होंने अनेक दुष्टों का संहार किया किन्तु यह सारा क्रियाकालप बहुजन-हिताय, बहुजनसुखाय था किन्तु व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं था। जैसे लंका-विजय के उपरान्त मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र महाराज ने लंका की राजगद्दी स्वयं न लेकर रावण के भाई विभीषण को दे दी थी वैसे ही कंस की मृत्यु के अनन्तर मथुरा का राज्य महाराज कृष्ण ने अपने पास न रख कर कंस के पिता को सौंप दिया था। इस प्रकार उनका जीवन आत्म-त्याग और लोकसेवा के आदर्शों से भरा हुआ था। श्रीकृष्ण चन्द्र ने अपने जीवन के लिए यही नीति अपनाई हुई थी कि व्यक्तिगत लाभ के लिए किसी का अहित न किया जाए। परन्तु जब शत्रु अपनी तुलना में अत्यन्त सशक्त हो तो युद्ध के सम्मान्य धर्मों और नियमों की उपेक्षा करके कूटनीति को भी अपना लेना चाहिये।

महाभारत युद्ध में पाण्डवों को विजयी बनाने का सारा श्रेय कृष्ण भगवान् को दिया जा सकता है। उन्होंने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया था कि कौरव अधर्म के पथ पर हैं; साथ ही वे बहुत शक्तिशाली हैं। गीता में उन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य बड़ी स्पष्टता के साथ बताया है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

सज्जनों की रक्षा के लिए और दुष्टों के विनाश के लिए तथा धर्म की स्थिति मज़बूत करने के गिए प्रत्येक युग में महान् पुरुषों की आवश्यकता होती है। इस

धर्म की स्थापना के लिए सज्जनों की रक्षा और दुर्जनों का विनाश आवश्यक है। किन्तु यह कार्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए नहीं किया जाना चाहिए अन्यथा अपने लाभ के लिए दूसरों का विनाश करने वाला उच्चतम व्यक्ति भी निकृष्टतम व्यक्तियों की श्रेणी में शामिल हो जाता है।

महाभारत-युद्ध शुरु हो गया है। एक ओर सीमित साधनों वाली पाण्डवों की सात अक्षौहिणी सेना युद्ध के लिए खड़ी है तो दूसरी ओर कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना तैयार है। कौरवों की सेना पाण्डवों की सेना से सङ्ख्या में अधिक है और लड़ाई का सामान भी उनके पास ज्यादा है। ऐसी अवस्था में कृष्ण महाराज युधिष्ठिर को कपट नीति का सहारा लेने के लिए प्रेरित कर रहे हैं—

मायाविन इमां मायां मायया जहि भारत।
मायावी मायया वध्यः सत्यमेतद् युधिष्ठिर ॥

हे युधिष्ठिर ! यह दुर्योधन बड़ा कपटी है इस कारण तुम इसकी माया का मुकाबला माया (कपट) से करो। यह सत्य है कि कपटी आदमी का नाश कपट से ही करना चाहिए।

इसी युद्ध के भयंकर रूप धारण कर लेने पर पाण्डवों के लिए कठिनाई पैदा हो गई थी। सेनापति भीष्म ने नौ दिनों की लड़ाई में पाण्डवों की बहुत बड़ी सेना का संहार कर दिया था। उस समय ऐसा लगने लगा था कि यदि यही स्थिति कुछ और दिनों तक चलती रही तो पाण्डव-सेना की निश्चित रूप से पराजय हो जायेगी। अपनी सेना का संहार होते देख कर युधिष्ठिर कृष्ण भगवान् से कहने लगे—न युद्धं रोचते मह्यं भीष्मेण सह माधव।

हे कृष्ण ! मुझे भीष्म के साथ लड़ाई करना अच्छा नहीं लग रहा है क्योंकि महावीर भीष्म इस युद्ध में मेरी सेना को मारते चले जा रहे हैं। जैसे आग में पड़ने पर पतंगे भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार भीष्म के द्वारा हमारी सेना के योद्धा मारे जा रहे हैं। अब आप ही बताइये कि संग्राम में भीष्म को कैसे जीता जा सकता है ? और कैसे हम कौरवों से अपना खोया राज्य वापिस ले सकते हैं ? इस पर कृष्ण युधिष्ठिर को दिलासा देते हुए कहते हैं—धर्मपुत्र युधिष्ठिर ! तुम्हें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए मैं गंगा के पुत्र भीष्म को संग्राम में निश्चित रूप से मरवा डालूंगा।

इसके बाद कृष्ण उसी रात को युधिष्ठिरादि के साथ भीष्म से मिलने गये और उन्होंने बातों ही बातों में जान लिया कि ब्रह्मचारी भीष्म को नपुंसकों और स्त्रियों के साथ युद्ध करना पसन्द नहीं है। अब क्या था अगले ही दिन उन्होंने

शिखण्डी को अर्जुन के आगे खड़ा कर दिया और शिखण्डी की ओट में खड़े अर्जुन से भीष्म के ऊपर बाण चलवाये। अर्जुन ने पहले तो भीष्म के धनुष का छेदन किया, उसके बाद तेज़ बाणों से प्रहार किया। अर्जुनस्य इमे बाणा नेमे बाणाः शिखण्डिनः (भीष्म पर्व ११९, ६५) ये बाण तो अर्जुन के हैं शिखण्डी के नहीं। इस प्रकार के वचनों को कहने वाले भीष्म ने यद्यपि बाद में सत्यता को पहिचान लिया था किन्तु इससे पहले वे कृष्ण की कूटनीति का शिकार बन गये। अर्जुन ने तीखे बाणों की मार से भीष्म के शरीर को जर्जरित कर उन्हें रथ से नीचे गिरा दिया।

जब लड़ाई में बुरी तरह थके हुए सात्यकि को भूरिश्रवा जमीन पर घसीटते हुए लड़ने के लिए ललकारने लगा तो अर्जुन ने अपने साथी को संकटग्रस्त देखकर भूरिश्रवा का हाथ काट दिया। संग्राम में यह नियम बरता जाता था कि जब दो योद्धा परस्पर लड़ रहे हों तो उनमें से किसी एक के ऊपर किसी तीसरे व्यक्ति को आक्रमण नहीं करना चाहिए, परन्तु कृष्ण की सलाह से अर्जुन ने इस युद्ध-नियम का उल्लङ्घन करने वाले भूरिश्रवा का हाथ काट कर समयोचित व्यवहार किया।

जब युधिष्ठिर के मुख से अर्जुन को यह ज्ञात हुआ कि उसके पुत्र अभिमन्यु को घेर कर अन्यायपूर्वक मार डालने में जयद्रथ का प्रमुख हाथ है तो उसने जयद्रथ को अगले दिन सूर्यास्त तक मार डालने की प्रतिज्ञा कर ली। जब शाम होने को थी तो किसी भी प्रकार से जयद्रथ के मारे जाने का प्रण पूरा होते न देख कर भगवान् कृष्ण ने अपनी माया से अंधेरा कर दिया और जयद्रथ शाम होती जानकर खुशी के मारे नाचने लगा। अर्जुन भी प्रतिज्ञा भंग हो जाने के कारण मरने के लिए जलती चिता में कूदने की तैयारी करने लगे। इसी समय कृष्ण ने माया-जन्य अंधेरा दूर कर दिया जिस से सूर्य ने फिर से चमकना शुरु कर दिया। उसी समय कृष्ण की आज्ञा पाकर अर्जुन ने जयद्रथ को अपने बाणों से मार दिया। यदि कृष्ण इस समय धर्माधर्म के संशय में पड़ कर कूटनीति का आश्रय न लेते तो पाण्डवों का पराजित होना अवश्यम्भावी था।

सेनापति भीष्म के अनन्तर युद्धसंचालन का सारा भार द्रोणाचार्य के समर्थ कन्धों के ऊपर आ पड़ा था। पाण्डव-सेना का तेज़ी से संहार हो रहा था। श्रीकृष्ण जानते थे कि द्रोणाचार्य अपने पुत्र अश्वत्थामा को प्राणों से बढ़कर चाहते हैं। उन्होंने अश्वत्थामा नामक हाथी को मरवा कर यह प्रसिद्ध करवा दिया कि अश्वत्थामा मार दिया गया है। अपने पुत्र की निधनसम्बन्धी इस सूचना को सुनकर इस की सत्यता को जानने के लिए द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर से पूछा। श्रीकृष्ण के परामर्शानुसार युधिष्ठिर ने कहा—अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा—

अश्वत्थामा मारा गया है। वह आदमी है या हाथी, यह मैं नहीं जानता। नरो वा कुञ्जरो वा कहने के समय श्रीकृष्ण ने शङ्ख बजा दिया जिससे द्रोणाचार्य इतना ही सुन सके कि अश्वत्थामा मारा गया है। फिर वे पुत्र के शोक से दुःखी होकर शस्त्रत्याग करके बैठ गये। उनको शस्त्रहीन बैठा देखकर पाण्डवों की सेना के धृष्टद्युम्न ने तलवार से उनका सिर काट दिया। इस प्रकार कृष्ण की चतुराई से द्रोणाचार्य का भी वध कर दिया गया।

कर्ण और अर्जुन में घमासान लड़ाई छिड़ी हुई थी। दोनों एक दूसरे के वार काट रहे थे। दोनों ही योद्धा पूरे मुकाबले के थे और विना थके लड़ते जा रहे थे। अचानक कर्ण के रथ का पहिया धरती में धंस गया। वह अर्जुन को युद्ध के नियमों की ओर ध्यान दिलाकर रथ से नीचे उतर कर धंसे हुए रथ के पहिये को बाहर निकालने लगा। अर्जुन ने युद्ध के नियमों को ध्यान में रखकर लड़ना छोड़ दिया था। वे प्रतीक्षा करने लगे कि कब कर्ण फिर से रथ पर बैठें और कब युद्ध फिर से आरम्भ हो। इस पर कृष्ण अर्जुन से कहने लगते हैं—अर्जुन, अब तमाशा क्यों देख रहे हो? शत्रु पर प्रहार करो। उनके आदेशानुसार अर्जुन को बाण चलाते देख कर्ण अर्जुन से थोड़ी देर रुक जाने के लिए गिड़गिड़ाने लगते हैं—मैं जब तक रथ पर नहीं बैठ जाऊँ तब तक अपना हाथ रोके रहो। यही वीर पुरुषों का धर्म है। वीर लोग कभी भी निहत्थों पर वार नहीं करते हैं। जीवन-भर नीच दुर्योधन का साथ देकर अधर्मी कर्ण को धर्म की दुहाई देते हुए देखकर श्रीकृष्ण उसे फटकारते हुए कहते हैं—राधापुत्र! यह बड़े सौभाग्य की बात है कि आज तुम्हें धर्म की याद आ रही है। प्रायः देखा जाता है कि नीच पुरुष विपत्ति आने पर धर्म का नाम लेते हैं और अपने कुकर्मों को भूल जाते हैं:—

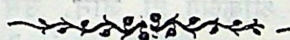
> यदा रजस्वलां कृष्णां दुःशासनवशे स्थिताम्।
> सभायां प्राहसः कर्ण क्व ते धर्मस्तदा गतः॥
> यदाऽभिमन्युं बहवो युद्धे जघ्नुर्महारथाः।
> परिवार्य रणे बालं क्व ते धर्मस्तदा गतः॥

हे कर्ण! जब भरी सभा में दुःशासन के चंगुल में पड़ी द्रौपदी पर तुम भरी सभा में हंस रहे थे तो तब तुम्हारा धर्म कहां गया था? जब अकेले बालक अभिमन्यु को बहुत सारे महारथियों ने चारों ओर से घेर कर मारा था, तब तुम्हारा धर्म कहां चला गया था?

यदि इन अवसरों पर यह धर्म नहीं था तो आज भी यहां सर्वथा धर्म की दुहाई देकर तालु सुखाने से क्या लाभ? इस प्रकार श्रीकृष्ण के इन वचनों को सुनकर कर्ण ने लज्जा से अपना मुख झुका लिया और उनसे कुछ कहते हुए नहीं बना।

ऐसी दशा में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—अर्जुन ! देखते क्या हो ? इस पापी के टुकड़े-टुकड़े करके धरती पर गिरा दो। फिर क्या था ? अर्जुन ने कर्ण के सारे पापों को याद करके गुस्से में भर कर एक भयङ्कर बाण उठाया और चलाकर कर्ण के प्राणों को हर लिया।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीकृष्ण ने यदि महाभारत की लड़ाई में पाण्डवों की विजय के लिए कूटनीति का आश्रय नहीं लिया होता तो कौरवों को हराना असम्भव था। उन्होंने यह कार्य अपने हित के लिए नहीं किया। पाण्डवों की विजय होने पर उन्होंने इन्द्रप्रस्थ का राज्य पाण्डवों को ही सौंप दिया, उसमें से अपना हिस्सा नहीं मांगा। श्रीकृष्ण व्यक्ति से ऊंचा समाज को मानते थे, इस कारण उन्होंने अपने जीवन में से स्वार्थभावना निकाल दी थी। सेवा का व्रत ही उन्होंने सारे जीवन के लिए ग्रहण कर लिया था। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में दूर २ से आये हुए अतिथियों के पैर धोकर आतिथ्य करने का भार उन्होंने स्वेच्छा से अपनाया था। आज की सभी प्रकार की समस्याओं को हल करने में भगवान् कृष्ण का दिखाया गया नीतिमार्ग हमारे देश के नेताओं और जनता की बहुत बड़ी सहायता कर सकता है। उनके जीवन से प्रेरणा और प्रकाश पाकर हमारा देश बहुत ऊंचा उठ सकता है।



तुम मेरी राखो लाज हरी।

तुम जानत सब अन्तर-यामी, करनी कछु न करी।
औगुन मो ते बिसरत नाहीं, पल छिन घरी-घरी।
सब प्रपंच की पोट बांध करि, अपने सीस धरी।
दास सुत धन मोह लिये हों, सुधि-बुधि सब बिसरी।
सूर पतित को बेगी उबारौ, अब मेरी नाव भरी।

(सूरदास)

डोगरीलोककाव्य में श्रीकृष्ण का स्वरूप

—डा० चम्पा शर्मा

डुग्गर प्रदेश के लोकजीवन में राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा आदि का स्थान सर्वोपरि रहा है। हमारे लोकसाहित्य में इन नामों की भरमार है। कृष्ण एवं राम की कथा सहस्रों वर्षों से भारतीय लोकजीवन में संचरित हो चुकी है, भारत का एक अंग होने के कारण डुग्गर के लोकसाहित्य में भी कृष्ण का चरित्र पर्याप्त वर्णित है।

बालक के जन्म पर गाये जाने वाले डोगरी लोकगीतों (बिहाइयां) में प्रमुख रूप में कृष्ण के जन्म की खुशी का एवं कृष्ण के बालरूप का उल्लेख किया गया है। प्रत्येक नवजात बालक के पिता को नन्द कहा गया है जिसके घर हंसी-खुशी के फव्वारे छूटने लगते हैं। मथुरा के कारावास में जन्मे कृष्ण को किसने कौनसी गुढ़ती पिलाई थी, यह तो भगवान् श्रीकृष्ण ही जानें, उस समय वसुदेव के सामने तो समस्या यह थी कि किस प्रकार बालक को क्रूर कंस के हाथों से बचाकर शीघ्रातिशीघ्र गोकुल में बाबा नन्द के घर पहुँचाया जाए, जभी तो वसुदेव ने पूर्णसलिला यमुना को, अंधेरी काली रात में पार करने का भी खतरा मोल ले लिया था, अतः मथुरा में उत्पन्न होने वाले कृष्ण तो गुढ़ती से वंचित ही रह गए। डुग्गर में जन्म लेने वाले कृष्ण को तो स्वर्णनिर्मित कटोरी में सर्वदा बताशे की गुढ़ती घोल कर दी जाती है। यह प्रथम खाद्य कृष्ण का जन्म होने के पश्चात् स्नान करवा कर रेशमी वस्त्र (डो० पट्ट) में लपेट कर माता की गोदी में रख दिया जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि डुग्गर का भूभाग आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा रहा है पर बालक के जन्म पर अपनी सामर्थ्य से भी अधिक धन खर्च किया जाता रहा है, ऐसा निम्नलिखित लोकगीत के बोलों से प्रतीत होता है जिसमें बालक के लिए चन्दन की लकड़ी का पालना (डोगरी पंगूड़ा) बनवाया जाता है और उसमें रेशम के डोरे लगाए जाते हैं। पंक्तियां इस प्रकार हैं—

घर नन्द दे बज्जन बधाइयां,
घर नन्द दै जी।

जम्मेग्रा जाएग्रा गुद्दड़ पलेटेग्रा,
कुच्छड़ मिलेग्रा दाइयां ।

सोने दी मेरी बनियै कटोरी,
पतासै गुड़ती घोली ।
घर नन्द दै जी ॥

चन्नन दा मेरा बनेग्रा पंगूड़ा,
रेशम डोरी लाइयां ।
घर नन्द दै जी ॥

एक ग्रन्य डोगरी लोकगीत में कृष्ण के जन्म लेने पर बधाई दी गई है। कृष्ण के पिता नन्द के दरवाजे पर हाथियों के बंधे रहने तथा शहनाईवादन का उल्लेख लोककवि ने किया है। इसी लोकगीत में कृष्ण के मरा पैदा होने से गोकुल में भी बहार ग्राजाने का ग्रौर कृष्ण द्वारा यमुना नदी के मध्य में कालीनाग को वशीकृत कर लेने का चित्रण किया गया है। डुग्गर लोककवि कहता है—

नन्द घर जरमे कृष्ण मुरार,
बधावा मेरे राम जी ।
चन्दन ड्योढी हाथी झूमै,

'मथरा' नगरी खुशियां होइयां,
'गोकुल' ग्राइऐ ब्हार ।

काली नाग नत्थै मेरा काहना जमना जी बशकार,
नन्द घर जन्मे कृष्ण मुरार ।
बधावा मेरे राम जी ॥

(डोगरा लोकगीत भाग १ पृष्ठ ६)

डुग्गर के लोककवियों ने पौराणिक कथाग्रों में ग्रपनी कल्पना की रंगत से लोकगीतों का रूप संवारा है। डुग्गर का लोककवि कृष्ण को ग्रलौकिक शक्ति से भी परिचित है। तभी तो उसने लिखा है—

प्हैली सट्ट बाई काहना,
थर-थर कम्बियै लोकाई ।
दूजी सट्ट बाई काहना,
गाऊग्रां दे बच्छड़े छड़ाये ।
तीजी सट्ट बाई काहना,

नदियें दे नीर सकाये।
चौथी सट्ट बाई काहना,
मैहलें दे किंगरे उडाये।
पंजमी सट्ट बाई काहना,
कंस मारी घर आये।
पीढ़ी हत्थ लाएआं माए,
नाने राज देइयां।।

(वही पृष्ठ १-२)

एक अन्य बिहाई में बालक को देखकर ननद-भाभी परस्पर कहती हैं कि यह बालक तो तीनों लोकों के स्वामी कृष्ण हैं जिनके जन्म लेते ही कारागार के ताले स्वतः खुल गये थे। पंक्तियां हैं—

कृष्ण मुरारी जनमे भाबो,
त्रैलोकी दे नाथ।
गोदां हरियां होइयां।।
खुल गे कैदखाने दे जन्दरें,
वसुदेव चले न साथ।
गोदां हरियां होइयां।।

डुग्गर के सुखी पारिवारिक जीवन की एक झलकी भी दर्शनीय है जिसमें पति-पत्नी मिल कर गृहस्थी चला रहे हैं। कृष्ण की माता जब घर के कामकाज में व्यस्त है तब तो उसके पिता (डोगरी बाबल) उसे कंधे से लगाकर थपथपाते हैं ताकि बालक सो जाए, तिस पर भी जब कृष्ण सोने के लिए मां की ही स्नेहभरी, ममता-पूर्ण, मधुर बातों को सुनना चाहते हैं तो वह काम से निपट कर बच्चे को सुलाने लगती है। लोकगीत की पंक्तियां हैं—

कौन खलावै, गल्लां लावै कृष्ण जी गी,
'बाबल' कृष्ण जी दा लोरियां देवे,
माए गल्लां लावै कृष्ण जी गी,
मंनें, नींद भर आई कृष्ण जी दे।

कृष्ण केवल सोने के लिए ही जिद्द नहीं करते, उन्हें तो बरफी, खोआ खाने का भी लोभ है। एक लोकगीत में कृष्ण की माता भैंस से अनुरोध करती है कि वह अधिक दूध दे ताकि घर में कृष्ण के लिए खोआ तैयार हो सके—

देआं दुद्ध माज्जड़िये,
काहने गी खोआ खलाना।

इक मन देन्दड़िये,
दो मन दुद्ध नोआयां ।।

यह तो रहा डुग्गर के लोककवि द्वारा किया गया कृष्ण का बालरूपसम्बन्धी चित्रण। तरुण कृष्ण की प्रकृति का उल्लेख डुग्गर लोकगीतकारों ने किस प्रकार से किया है, यह भी दर्शनीय है। तरुण कृष्ण का उल्लेख कुछ विवाहसम्बन्धी डोगरी लोकगीतों में हुआ मिलता है। कन्या के विवाह पर गाए जाने वाले एक लोकगीत (सुहाग) में कन्या अपने माता पिता से अनुरोध करती है कि वे श्रावण मास में विवाह की तिथि निश्चित न करें क्योंकि श्रावण में भारी बर्षा होती है। इससे कृष्ण जिसके लिए शाम शब्द प्रयुक्त हुआ है के वस्त्र-सेहरा आदि भीग जायेंगे और बारात भी घोड़ों सहित भीगेगी। सुहाग की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

में तुगी आखेआ सुन बाबला,
ओ धरमिआ बे।
साबन काज न रचाएआं-हरे राम राम।
साबन बरसदे मेघड़े-भारी मेघड़े जी,
सिज्जी जन्दे शाम जी दे कपड़े हरे राम राम।

झुल्ली जन्दी ऐ दक्खने दी बा,
रे सुन धीये मेरिये.
सुक्की जन्दे शाम जी दे कपड़े-हरे राम राम।

ऊपर उल्लिखित पंक्तियों से जहां एक ओर डुग्गर में श्रावण-भादों के मौसम का पता चलता है वहां दूसरी ओर कृष्ण की चंचल प्रकृति की ओर भी संकेत है। कृष्ण जल्दी रूठने वाले हैं, कपड़े और सेहरा भीग जाये तो न जाने कितने नाराज हो जायें, इस भय से शंकित कन्या की माता की ओर से पिता को की गई प्रार्थना को लोककवि ने शब्दरूप दिया है। कृष्ण के रूठनेसम्बन्धी स्वभाव को डुग्गर के लोककवि ने गीत में भी उल्लिखित किया है—

दिक्खो नि सेइयो,
ए चन्न चढ़दा नइयों,
रुस्से दा शाम ब्हेड़े,
बड़दा नइयों।
अरजां दे जोर नि मैं चन्न चढ़ाया,
मिन्तां दे जोर नि में शाम मनाया।

कृष्ण के पारिवारिकजीवनसम्बन्धी एक अन्य लोकगीत में डुग्गर समाज में

विद्यमान सास-बहू की नोक-झोंक का वर्णन किया गया है। राधा बड़े घर की बेटी वर्णित की गई हैं। कृष्ण का परिवार आर्थिक दृष्टि से तनिक पिछड़ा है। राधा घर के काम में सास का हाथ नहीं बंटाती, अतः सास खींजी सी रहती है। कृष्ण द्वारा पूछे जाने पर यशोदा, राधा के निठल्ले बैठे रहने एवं घर के कामकाज के प्रति उदासीन रहने की बात कह देती है। कृष्ण यशोदा से कहते हैं कि वे आज ही राधा को उसके मायके छोड़ आयेंगे, पर सास राधा को भेजना भी नहीं चाहती। वह कहती है, इसने इतना अधिक दहेज लाया है और फिर बड़े घर की बेटी है'। लोकगीत के बोल हैं :—

माता जी बड्डा बेला प्रभात,
दातन बेला बीतेआ हरे मेरे राम,
दातन बेला बीतेआ,
कान्हा जी बड्डा बेला प्रभात,
दातन मंगी नई मिलै,
हरे मेरे राम,
माता जी कैत होए दिलगीर,
कुसनै मन्दा वोलेआ, हरे मेरे राम
कान्हा जी बड़े घरै दी धी,
आक्खै-बेखै नईं लगदी,
कम्म धन्धा नईं करदी,
हरे मेरे राम,
माता जी अहें देओ वनबास,
जां भेजी देओ प्योकड़े,
हरे मेरे राम,

कान्हा जी बड्डे घरे दी धी
पट्ट-पीताम्बर दाज आन्दा
हरे मेरे राम।

उपर्युक्त गीत से एक ओर तो कृष्ण की मातृभक्ति का परिचय मिलता है, दूसरी ओर कृष्ण के क्रोधी स्वभाव का आभास भी होता है। यह सब होते हुए भी राधा-कृष्ण का प्रेम अद्वितीय वर्णित किया गया है। संयोग शृंगार का भी अद्भुत वर्णन किया गया है। कृष्ण के ब्रजभूमि को छोड़ कर मथुरा चले जाने का और पीछे विरहिणी राधा एवं गोपियों को बिलपते छोड़ कर तथा गऊओं को विकल करके चले

जाने का उल्लेख भी डोगरीलोककाव्य में हुआ है। डोगरी लोकगीतों की राधा को तो यह पश्चत्ताप है कि कृष्ण उसे सोती हुई को छोड़ कर चले गए। वह कहती है कि यदि वह जाग रही होती तो कृष्ण को कभी न जाने देती। राधा अपने दुर्भाग्य को ही कोसती है। सम्भवतः कृष्ण भी राधा से बिछुड़ने का साहस तभी बटोर सके जब वह सोई हुई थी। लोकगीत की इन पंक्तियों से :—

"सेइयो, भुल्ली गई करी अनकार जी,
मिगी नईं सी इस गल्ला दी सार जो,
अज्ज सोचा में पेइयां बकारियां,
कुत्थै कीतिआं कृष्ण जी त्यारियां"।

प्रतीत होता है कि कृष्ण, राधा द्वारा की गई किसी आज्ञा का उलंघन करने के कारण रूठ कर चले गए। यदि वह जाग रही होती तो क्षमायाचना करके कृष्ण को मना ही लेती। लोककवि ने उसकी विवशता को पकड़ते हुए कहा है :—

राधा रोन्दी ऐ करी अवाजारियां,
कुत्थै कीतियां कृष्णा त्यारियां,

राधा कह रही हैं :—

सेइयो सड़ी गे मेरे भाग जी,
कृष्ण टुरिया नईं आई मिगी जाग जी,
सोचां करदिआं मिली बेई सारियां,
कुत्थै कीतियां कृष्णा त्यारियां ?

राधा को पूर्ण विश्वास है कि कृष्ण उसके विना पल भर भी कहीं दूर रहने वाले नहीं थे। अब की बार जो इतनी लम्बी अवधि तक मथुरा में रहने लग गए हैं, यह अवश्य ही कुब्जा के जादू के कारण है। यह उल्लेख लोककवि के शब्दों में इस प्रकार मिलता है :—

तुगी कुब्जा नै जादू पाई लेआ,
असें रोई रोइयै हाल गुआई लेआ,
गऊआ रोन्दियां कुतै नि जन्दिया,
न किश खन्दियां न किश पीन्दियां,
तेरे दर्शनें दिआं मुक्खियां सारियां,
कुत्थै कीतियां कृष्णा त्यारियां ?

डुग्गर के लोककवि ने वियोगिनी राधा के मन की स्थिति को समझा है। उसके

विदग्ध हृदय की धड़कनों को गिना है। वस्तुतः कृष्ण के प्रेम से वंचित होकर न केवल राधा ही अपितु पशु-पक्षी, वृक्ष-लतायें, गोप-गोपियां, सभी विह्वल हो उठे थे। इस कथन की पुष्टि डोगरी लोकगीत की निम्न पंक्तियों से होती है :—

रुक्ख बिच जंगलै दे रोन्दे,
पंछीं सुखै दी नीन्दर नि सौन्दे,
सुनी सुनी राधा दिआं अवाजारिआं
कुत्थै कीतियां कृष्णा त्यारियां ?

प्रस्तुत विवेचन से ज्ञात होता है कि डोगरी-लोक-कवियों ने कृष्ण के बाल एवं तरुण दोनों ही रूपों का भव्य एवं भावपूर्ण चित्रण किया है और दोनों रूपों को डुग्गर समाज के रंग से रंजित दिखाने का सफल प्रयास किया है।



मानुस हौं तौ वही रसखानि,
बसौं ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन,
जो पसु हौं तौ कहा बसु मेरो,
चरौं नित नन्द की धेनू मंझारन।
पाहन हौं तौ वही गिरि को, जु
कियो कर छत्र पुरंदर-धारन,
जो खग हौं तौ बसेरो करौं
मिलि कालिंदी-कूल कदंब की डारन॥

(रसखानि)

डोगरा—पहाड़ी चित्रकला में श्रीकृष्णचरित

—पं० संसार चन्द्र

हिन्दु-धर्म जिसे आर्य-धर्म भी कहा जाता है, इतिहासकारों के मत में मूर्त्ति-पूजक नहीं था। अनेक इतिहासकारों के मत में मूर्त्तिपूजा का आरम्भ बुद्धधर्म से हुआ। महाराजा कनिष्क के शासन-काल में जब बुद्धधर्म महायान और हीनयान नाम की दो शाखाओं में विभक्त हुआ तो महायान शाखा के अनुयायिओं ने महात्मा बुद्ध की मूर्तियों की पूजा शुरू करदी। कुछ समय के बाद बुद्ध-धर्म की हीनयान शाखा धीरे-धीरे हिन्दु-धर्म में विलीन हो गई। महाभारत में भगवान् श्रीकृष्ण ने मूर्तिपूजा के विषय में अपना निर्णय देते हुए कहा है—साकार का मार्ग सहज है जबकि निराकार का मार्ग कठिन और दुष्कर है।

भारतबर्ष में स्वामी शंकराचार्य की अद्‌भुत दिग्विजय के बाद वैष्णवसंप्रदाय के कुमारिल भट्ट, रामानुज, वल्लभाचार्य जैसे विलक्षण भक्तों ने हिन्दु-धर्म का पुनरुत्थान किया। उस समय बुद्धधर्म न केवल भारत पर अपितु चीन, जावा, सुमात्रा, जैसे बाहिर के देशों पर भी अपना एकमात्र राज्य स्थापित कर चुका था। इसका एकमात्र कारण यह था कि इसे अशोक सम्राट् जैसे महात्यागी और महा-प्रतापी राजाओं का प्रश्रय प्राप्त था।

उस समय भारत के कवियों ने धर्म के इस आंदोलन को ऐसा मोड़ दिया कि हिन्दुधर्म पुनः भारत में प्रतिष्ठित हो गया। उस युग में भक्तिरस के ऐसे प्रेम-प्रधान गीत लिखे गये जिनका स्वर समस्त भारत में गूंज उठा। श्री भर्तृहरि से लेकर जयदेव और विद्यापति जैसे ऐसे महान् गीतकार हुए जिन्होंने प्रेमप्रधान भक्तिरस की अनवरतप्रवाहा स्रोतस्विनी बहा दी। भक्तिरस की पदरचना का यह क्रम सतत चलता रहा और भक्तशिरोमणि सूरदास, मीरां, विहारी, पद्माकर जैसे महान् कवियों और कवयित्रियों ने अजर अमर कृष्णकाव्य लिख कर पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक भक्तिमंदाकिनी की अविरल धारा बहा दी।

उस युग के चित्रकारों का एकमात्र संवल उपर्युक्त भक्त कवियों की यही चिरस्मरणीय रचनाएं थीं। उन्हीं रचनाओं को आधार बनाकर उन्होंने अपनी तूलिकाएं उठाईं। यह सर्वविदित सत्य है कि कविता के भावों को चित्रों में उतारना महान् एवं कुशल कलाकार का ही काम होता है। शब्द को रूप देने का काम आसान नहीं हैं। कभी-कभी तो चित्रकार भावनाओं के चित्रण में कवि से भी आगे निकल जाता है। उस युग में भक्तिरस के पद्यों को लेकर हज़ारों चित्र बने किन्तु कृष्णभक्ति और कृष्णचरित्र पर आधारित चित्रों में जो आद्भौत्य मिलता है, वह अन्यत्र देखने में नहीं आता। सर्वप्रथम कृष्णचरित पर आधारित चित्रकला का आरम्भ उत्तर भारत के बिहार और राजस्थान नाम के राज्यों में हुआ।

भगवान् श्रीकृष्ण को ऐतिहासिक महापुरुष माना गया। बंगाल के महान् इतिहासकार राधाकमल मुकर्जी ने श्रीकृष्ण का समय 1000 ईसापूर्व निर्धारित किया है। श्रीकृष्ण की लीला का कितना अंश ऐतिहासिक और कितना काल्पनिक है, यह कहना कठिन है किन्तु राधा और कृष्ण का पारस्परिक प्रेम एक ऐतिहासिक तथ्य है जो सर्वमान्य है। महाभारत के श्रीकृष्ण तो महर्षि व्यास के प्रधान पात्र हैं। उनकी तुलना राधा के प्रेमाधार श्रीकृष्ण से नहीं की जा सकती। राधाकृष्ण का अनन्य प्रेम काव्यग्रन्थों और चित्रों में इतना चर्चित हुआ कि लोग इस तथ्य को भी भूल गए कि राधा परकीया नायका थी। मंदिरों में राधा-कृष्ण की युगल मूर्त्तियां स्थापित की गईं। राधा और कृष्ण के प्रेम को आदर्श मान लिया गया। गोपियां श्रीकृष्ण के प्यार में व्याकुल रहती थीं। वे प्यार भी करती थीं और माता यशोदा के आगे कृष्ण की शिकायतें भी करती थीं। इस पर भी वे कृष्ण को देखने के लिये हर समय लालायित रहती थीं। फिर एक समय ऐसा भी आया कि वे लोकलाज और मान-मर्यादा का पूर्णतः त्याग करके कृष्ण-प्रेम में विह्वल होकर चौराहों पर आ गईं। उस समय उनके होठों पर कृष्ण के नाम के सिवाय कुछ नहीं था। गोपियों का विरह उस समय पराकाष्ठा पर पहुँच गया जब अक्रूर द्वारा श्रीकृष्ण को मथुरा ले जाया गया और वे वहां ऐसे रमे कि फिर गोकुल लौटने का नाम नहीं लिया। हां, गोपियों को सान्त्वना देने के लिये उन्होंने उद्धव को गोकुल जरूर भेजा। राधा समेत सब गोपियां कृष्ण के स्मरण में कृष्णरूप हो गईं।

भगवान् कृष्ण के समस्त जीवन को कोई भी चित्रकार आज तक चित्रित नहीं कर सका। हर चित्रकार ने उनके आंशिक जीवन को ही रंगों के संसार में उतारने की चेष्टा की है। चित्रकारों ने उनके जीवन के जिस अंश को सब से अधिक अपनी तूलिका का विषय बनाया वह उनका बाल्यकाल है। न तो भक्त कृष्ण के शैशव को भूल

सके हैं और न ही चित्रकारों की दृष्टि से कृष्ण का बालरूप एक क्षण के लिये ओझल हो सका है। चित्रकारों ने सब से ज्यादा सूर के वात्सल्य को ही सुकोमल रंगों में चित्रित करने के सफल प्रयत्न किये हैं। उन के बचपन को लेकर हज़ारों चित्रकारों ने लाखों चित्र बनाए। राजस्थान इस दिशा में सबसे आगे है। जब राजस्थान कृष्ण के बालरूप को चित्रित कर रहा था, ठीक उसी समय राजस्थान के चित्रकारों की एक शाखा जम्मू व काश्मीर के सुविख्यात कलामंदिर बसोहली में पहुंची। यहां आकर इस चित्रकला ने जो शैली धारण की वह न केवल अपने आप में अद्वितीय ही थी अपितु महत्त्व की दृष्टि से अग्रगण्य भी थी। आज भी इस शैली का संसार में बहुत आदर-मान है। यह शैली अपनी विलक्षणता के कारण न केवल अपने आप को कांगड़ा शैली से पृथक् करने में समर्थ हुई, अपितु सौंदर्य और शिल्प की दृष्टि से उससे बहुत दूर आगे निकल गई। कलाप्रिय लोग जानते हैं कि बसोहली कलम का एक एक चित्र लाख लाख रुपये तक बिक चुका है। इस शैली में ब्रजराज कृष्ण के मुकुट पर तीन कमल हैं जो कांगड़ा शैली में नहीं मिलते। इस शैली का एक चित्र गीत-गोविन्द पर आधारित है जो भिन्न भिन्न कलापारखियों की चर्चा का विषय बना। इस चित्र में चित्रकार का नाम भी अङ्कित है और संस्कृत का श्लोक भी लिखा मिलता है। विस्मय की बात यह है कि चित्रकार का नाम पुंल्लिङ्ग होते हुए भी स्त्रीलिङ्ग के विशेषणों से विभूषित है। नाम "मानकू" है, ध्यान से विचार करने पर "मानकू" स्त्री का नाम भी हो सकता है। इसी लिये श्री एन० सी० मेहता ने "मानकू" को स्त्री कहा है। किसी स्त्री का चित्रकला में इतना प्रवीण होना अपने आप में एक बड़ी भारी उपलब्धि है। "मानकू" के अतिरिक्त केवल एक ही नारी चित्रकार का नाम समस्त भारत में उभरता है। वह नारी आदरणीया सहीफा बानो थी। मानकू के स्त्रीत्व या पुरुषत्व का निर्णय करने के लिये श्री खण्डेलवाल ने बम्बई में एक कलाकार-सभा का आयोजन किया था। उस सभा के अधिवेशन में यह निर्णय लिया गया कि "मानकू" पंडित 'सेऊ' का वही पुत्र था जिसका एक भाई जम्मू के महाराजा रणजीत देव के शासन-काल में जम्मू आचुका था। चित्र पर श्लोक जयदेवकृत गीतगोविंद का दोहा है।

सोमेश्वर चित्रकला के पारखी और मर्मज्ञ माने गये हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ अभिलषितार्थ-चिन्तामणि में मानसोल्लास चित्रों का वर्णन करते हुए स्पष्ट किया है कि विद्ध चित्र, अविद्ध चित्र, रसचित्र और धूलिचित्र नाम के चार चित्र होते हैं। पहाड़ी शैलियों में चित्रों के ये आरम्भिक गुण इन्हीं भेदों के अनुसार ही बनते रहे हैं। डोगरा-पहाड़ी-शैली में कृष्ण-लीला की ही प्रधानता है। कई चित्रों में प्रेम की व्यंजना अतिरंजना के कारण वासना तक भी पहुंची हुई प्रतीत होती है।

किसी ने ठीक ही कहा है कि जिस तरह दार्शनिक सत्य को जानता है, उसी तरह सौंदर्य को केवल चित्रकार ही समझता है। श्री एम० जी० रणघावा ने कहा है कि– कांगड़ा शैली का चित्रण किसी एक नारी का चित्रण नहीं है बल्कि वह नारीवर्ग का चित्रण है। जब मुगलशैली के चित्रकार कांगड़ा पहुँचे तो उन्हें वहां कला की पूर्णता और स्वतन्त्रता का अद्‌भुत अनुभव हुआ। सौंदर्यचित्रण की जितनी दक्षता कांगड़ा शैली में है उतनी किसी अन्य भारतीय शैली में नहीं मिलती। इस शैली में श्रीकृष्ण का रूप अत्यन्त सुंदर, आकर्षक और मधुर है। इस में वीरता और सौंदर्य दोनों बराबर विद्यमान हैं।

हर्बरट रीड का कथन है कि कला के लिये वातावरण की अनुकूलता अनिवार्य है। वातावरण ही कला के रंगों को निखारने का काम करता है। वे लिखते हैं :-

"I do not want to exaggerate importance of climatic factors, but the fact remains that whenever an ideological movement, whether merely stylistic or profoundly religious and spiritual is transplanted into different regions of climate and material conditions, the movement is transformed. It adopts itself in prevailing ethos, that emanates soil ....

चित्रकला को अद्वितीय प्रोत्साहन देने वाले गण्य-मान्य महानुभावों में राजा संसार चन्द का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने अपनी सभा में अपने युग के कुशान लाल पद्‌मू वसिया, दोखु, हस्तु, फलु, पुरुषु जैसे महान् चित्रकारों को आश्रय दिया हुआ था। वे पहाड़ी प्रदेश के शहनशाह जहांगीर कहलाते थे। उनके कलाकार मुगल दरबार के कलाकारों से भी बढ़ चढ़ कर थे क्योंकि मुगल दरबार के चित्रकार जिस माधुर्य और सुन्दरता की कल्पना न कर सके, राजा संसारचन्द के दरबारी चित्रकारों ने उसे संभव कर दिखाया। कांगड़ा कलम की चित्रकारी की सुन्दरता और मधुरता संसार भर में प्रसिद्ध है। कांगड़ा कलम की कोमलता, मुखरता, सौंदर्य, माधुर्य, भावभंगिमा, साजसज्जा, वर्णसामञ्जस्य जैसी विशेषताओं का योग संसार भर में नहीं मिलता। चित्रकला के अद्वितीय पारखी श्री एम० एस० रणधावा के अनुसार कांगड़ा की चित्रकला जीवन में प्रेम की उद्‌भावना करती है। इस में कोमलता प्रेम और आनन्द ओतप्रोत हैं। यह मानव-जीवन के लिये संजीवनी का काम करती है।

वसोहली कलम कांगड़ा कलम का ही एक अतिसूक्ष्म और परिष्कृत रूप है। इस में श्रीकृष्ण के राधाकृष्ण, बालकृष्ण और प्रेमी कृष्ण रूप ही सर्वाधिक उभरे हैं। इस चित्रकला की कुछ बानकियां इस प्रकार हैं :—

1. किसी गली में राधा और कृष्ण की भेंट होती है। दोनो प्रेमोद्रेक के कारण स्तंभित रह जाते हैं। दोनों में भावातिशय उमड़ता है किन्तु दोनों बलपूर्वक

भावों का नियन्त्रण करते हुए जडमूर्त्तिवत् खड़े रहते हैं। वे प्रेम को दबाकर भी दबा नहीं पाते। लोक-लाज उनके ग्राड़े ग्राजाती है। उनकी मूकता में भी प्रेम की भाषा मुखरित हो रही है।

2. राधा ग्रौर कृष्ण दूर दूर खड़े हैं। ग्रचानक उनकी ग्रांखें एक दूसरे से मिल जाती हैं। ग्रांखों ही ग्रांखों में बातें हो रही हैं। मुख मौन है, ग्रांखें मुखरित हैं।

3. राधा ग्रचानक कृष्ण को द्वार पर खड़ा पाती है। वार्त्तालाप के लिये दोनों लालायित हैं किन्तु प्रेम की ग्रधिकता के कारण दोनों की वाक्शक्ति मूक है केवल ग्रांखें ही उद्गारों का माध्यम बनी हुई हैं। कवि की वाणी चित्र में उतरकर दर्शकों को रससिक्त कर रही है।

4. ग्रपने ग्रपने झरोखों में बैठे कृष्ण ग्रौर राधा दोनों एक दूसरे को ताक रहे हैं। नज़रों के तारों पर भावों के बाज़ीगर एक ग्रोर से दूसरी ग्रोर ग्रा जा रहे हैं। मिलन की तड़प दोनों को बेचैन कर रही है।

5. राधा ग्रांगन में खड़ी है। ग्रचानक ग्रांगन में कृष्ण की पतङ्ग की छाया पड़ती है। वह भाग कर छाया को गले लगाना चाहती है। उसे पतङ्ग की छाया के स्पर्श से प्रिय के ग्रंगस्पर्श की ग्रनुभूति की ग्राशा है।

6. राधा ग्रांगन में मान किये बैठी है। कनखियों से कृष्ण को ग्रांगन में ग्राया देख कर भी ग्रनदेखा कर रही है। कृष्ण लौट रहे हैं। मान में ऐंठी राधा कृष्ण का स्वागत नहीं कर रही किन्तु मन ही मन कसमसा रही है।

7. यमुना का सूना किनारा है। कदम्ब की छाया में कृष्ण राधा को पाकर प्रसन्न हैं किन्तु उन्हें राधा की साज-सज्जा पसन्द नहीं ग्राई। वे ग्रपने हाथ से राधा की मांग भर रहे हैं। राधा प्रेम में मगन है।

8. कृष्ण एकान्त में राधा को पाकर ग्रपनी प्रेमतृष्णा को तृप्त करना चाह रहे हैं। वे राधा की बांह पकड़ कर ग्रपनी ग्रोर खींच रहे हैं। राधा लोकलाज से भर कर मन से न चाहती हुई भी नीचे नजर किये बांह छुड़ाने का यत्न कर रही है।

9. होली का त्योहार है। चारों ग्रोर हुड़दंग मचा हुग्रा है। गोप-गोपियां ग्रबीर, गुलाल ग्रौर पिचकारियां लिये एक दूसरे पर पिल पड़े हैं किन्तु राधा ग्रौर कृष्ण प्रेमोद्रेक से भरकर एक दूसरे को सतृष्ण ग्रांखों से निहार रहे हैं। वे दोनों किसी दूसरी दुनिया में हैं।

10. गोधूलि का समय है श्रीकृष्ण गौग्रों के पीछे चलते हुए घर लौट रहे हैं। गोपियां भगवान् के दर्शनों के लिये इस समय की प्रतीक्षा में थीं। वे भगवान्

को ग्राते देखती हैं। उनकी सतृष्ण ग्राँखें कृष्ण के सौंदर्य को पी रही हैं। ग्रनुरक्त गोपियां ग्रनुपम ग्रानन्द का ग्रनुभव कर रही हैं।

11. डोगरा ग्रार्ट गैलरी के एक चित्र में श्रीकृष्ण ग्वालों के साथ मिल कर मज़े में नाच रहे हैं। खूब धमाचौकड़ी मची है। किसी को ग्रपनी सुध नहीं है। कृष्ण के सिर पर वही तीन कमलों वाला मुकुट है।

12. एक ग्रन्य चित्र में युगुलकिशोर को प्रेममग्न दिखाया गया है। कृष्ण ग्रौर राधा को दो शरीर एक प्राण चित्रित किया गया है। इस चित्र के चित्रकार श्री जगतराम छुनिया हैं।

13. मधुवन को भयंकर ग्राग ने घेर लिया है। गोप-गौएं सभी व्याकुल होकर श्रीकृष्ण की ग्रोर ताक रहे हैं। कृष्ण ग्राग को पी रहे हैं। इस चित्र में ग्रद्भुत रंगों का सम्मिश्रण है।

14. बसोहली कलम के एक ग्रन्य चित्र में माता यशोदा दूध दोह रही है। कृष्ण उसके पीछे खड़े दूध मांग रहे हैं। कितनी प्राकृतिक स्थिति है।

15. ग्वाले मधुवन में गौग्रों को चरने के लिये छोड़ कर ग्रांख-मिचौनी खेल रहे हैं। कृष्ण भी साथ हैं। एक ग्वाला पीछे खड़ा उनकी ग्रांखों पर हाथ रखे हुए है। ग्रन्य ग्वाले पेड़ ग्रादि के पीछे छिपे है।

इन चित्रों के ग्रतिरिक्त कृष्ण-चरित्र से सम्बंधित डोगरा ग्रार्ट के ग्रौर भी कई ग्रद्भुत चित्र मिलते हैं जिनमें शिशुलीला, कंस-कृष्ण-युद्ध, ग्रर्जुन-सारथ्य, सुदर्शन-चक्रधारी कृष्ण, ग्रर्जुनोपदेश जैसे चित्र प्रधान हैं। चाहिये तो यह था कि महाभारत के श्रीकृष्ण के चरित को पूर्णरूपेण चित्रित किया जाता किन्तु ऐसा नहीं हुग्रा। सम्भवतः ऐसा इस लिये नहीं हुग्रा कि रावी के दायें किनारे के सभी राजा रघुवंशीय रहे हैं। श्रीराम उनके इष्टदेव हैं। इसलिये राम-चरित-मानस पर ग्राधारित चित्र ही यहां ग्रधिक बने हैं। राम पञ्चायत के चित्रों की संख्या सब से ग्रधिक है। मंदिरों के भित्तिचित्रों में कृष्णलीला ग्रवश्य चित्रित हुई है किन्तु ग्रधिक रंग राम-जीवन पर ही खर्च किये गये हैं। हरिचन्द ग्रौर जगतराम छुनिया जैसे कुछ कलाकारों ने श्रीकृष्ण के बहुत ही भव्यचित्र बनाए हैं। कुछ कृष्ण-चित्र वड़े लोगों की फर्मायश पर बने मिलते हैं। सब कुछ मिला कर यह कहा जा सकता है कि डुग्गर प्रदेश की चित्रकला न केवल चिरस्मरणीय ही है ग्रपितु ग्रनुकरणीय भी है। इस प्रदेश के चित्रकारों ने ग्रद्वितीय लगन, वर्णसम्मिश्रण, ग्रौर ग्रनुपम सिद्धहस्तता के जो ग्रादर्श स्थापित किये, वे निश्चित रूप से ग्राधुनिक चित्रकारों का भी पथप्रदर्शन करने में समर्थ हैं।

प्रभु का देवोत्तर मानवरूप

—पीताम्बर पारखी

जिसके अर्थ हैं– देवताओं से अद्भुत मानवजीवन या मानवता के बाद की देवोपलब्धि का जीवित चित्र। आशय कि पहले श्रीकृष्ण लोकोत्तर मानव हैं, तव वे हमारी श्रद्धा से आवाहित देवता या देवाधिदेव के पद पर भी आरूढ़ हो जाते हैं।

यह सच है कि जब तक मानव का मानव रूप समझ नहीं आता तब तक उस का देवत्व रूप भी समझ नहीं आ सकता।

लौकिक कथानक या नाटकों में जिस 'दयित-दयिता या 'नायक-नायिका' के विरहमिलन से रसोत्पत्ति की जाती है या जिन्हें रसोत्पत्ति में 'कार्य-कारण' माना जाता है, साहित्य में उन्हीं में से उदात्तचरित अभिनेताओं को, विभाव एवं आलम्बन का नाम देकर, उनके स्थायी, संचारी, सात्विक अनुभावों के संमिश्रण से रसोत्पत्ति की जाती है और उनके चरित लिखे जाते हैं।

इस लेख में हम अपने अधिनायक 'बाल कृष्ण' 'युवा कृष्ण' 'नैतिक कृष्ण', 'योगेश्वर कृष्ण' का चरित-चित्रण दे रहे हैं जो आगे चलकर अपने उदात्त रूप में स्वतः अभिव्यक्त हो जाएगा। द्वन्द्वान्तरित भावों के आधार पर यह हमारे साहित्य की परम्परा रही है कि हम आदर्शवादिता के परिवेष में असामान्य उदात्त पुरुषों का ही चरित साहित्य में अंकित करते आ रहे हैं।

जिस पर हमारी तर्जनी निर्देश करती है कि देखो और ऐसे ही कृत्यों से ऐसे ही चरितनायक तुम भी बनो।

आज कृष्णजन्माष्टमी की निशीथिनी है और इन्हीं उद्देश्यों से हम इन उन चरितनायकों की अनुस्मृति में प्रतिवर्ष बड़े उत्साह और समारोह से उनके शविल वार्षिक महोत्सव मनाते हैं।

श्रीकृष्ण सब कलाओं में गुरु थे। उन से सब कुछ ही सीखा जा सकता है,

उन्होंने देवताओं की सी लीलाएं कीं और मानवीय अभिनय खेला और उसी मानवी कारण से उन्होंने देवत्व एवं देवत्व का समादर प्राप्त कर लिया। तोभी हम यहां उनका मानवी रूप ही दे रहे हैं, जो हमारे दिलों में बरबस देवत्व की ओर प्रवाहित हो जाता है। लोकप्रिय श्रीकृष्ण लोकसंग्रह के आचार्य हैं।

लोक संग्रह—लोगों में अपना संग्रह या अपने में लोगों का संग्रह, इस तरह लोकसंग्रह के दो अर्थ हैं पहले के अर्थ हैं—'मर्यादा' में रहना। दूसरे के हैं 'नेता' बन कर रहना। इस तरह समष्टि-व्यष्टि पर नेतृत्व करना, व्यक्ति-व्यक्ति का हृदय जीत लेना। जनता के साथ एकहृदय होकर रहना, सब का समादर पाना, ये सब लोकप्रियता की ही देन है।

उनका सौंदर्य लोकोत्तर था, उनका अंगविन्यास आकर्षक था, कान्ति नीलमणि की सी, व्यूढ़ोरस्क, महाबाहु, कमलनयन के वक्षस्थल की पसलिआं बारह न होकर सोलह थीं। दाहिने वक्ष पर श्रीवत्स चिन्ह था, पाद तल में पद्मरागमणि थी। उनके नेत्रों का चित्रण करते हुए संस्कृत के महाकवि 'माघ' लिखते हैं—

यांयां प्रियः पश्यति कातराक्षीं सासा ह्रिया नम्रमुखी बभूव।

उनका 'युवारूप' ही नहीं 'बाल रूप' भी अनुपम था। जिस पर 'आनन्द-वृन्दावन चम्पू', गोपाल चम्पू' 'हरिभक्तामृतसिंधु' 'विदग्घ माधव,' जैसे ग्रन्थ लिखे गये हैं।

भागवत का दशम स्कन्ध मुक्तकण्ठ से श्रीवत्स के कितने ही अद्भुत बाल-चित्र देता है।

श्रृणु सखि ! कौतुकमेकं नन्दनिकेतनांगने मया दृष्टम्।
गोधूलीधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥

सूरदास जी ने तो अपने बालकृष्णचरित के चित्रण में १ लाख पद्य लिख दिये हैं।

१. 'बालकृष्ण'—की कतिपय चिर अविस्मरणीय घटनाएं। कालियनाग-मंथन, गोचारण, वेणुवादन, चीरहरण, रासलीला, गोपजाग्रति, गोवर्धनधारण, व्रजवासियों की दावा से रक्षा, आवाल वृद्ध की मोहकता, अन्यान्य सुलभ क्रीडाएं।

२. 'युवा कृष्ण'—चाणूरमर्दन, कंमवध, प्रलम्बासुरवध, अरिष्टासुरवध, केशी तथा व्गोमासुरवध, शम्बरासुरवध, भौमासुरवध, बाणासुरयुद्ध, शाल्वयुद्ध, शाल्ववध, दन्तवक्त्रवध, जरासंध-संगर, 'रुक्मिणी-हरण', आदि वीरकर्म हैं।

"रूपं चेदं 'पौरुषं' ध्यानधिष्ण्यम्" धिष्ण्य-सदनं उनकी रूपमाधुरी को देखते ही देखने वाले एकाएक ध्यानमग्न से रह जाते हैं। उनका सौन्दर्य अद्भुत था।

वे अपने समय के जनवर्ग में 'भगवान्' माने जाते रहे। इस समय समाज में और लोग भी अच्छे अच्छे थे। विद्वान्, योद्धा, ऋषि, मुनि, शिष्ट, सभ्य, सिंहपुरुष, स्थितप्रज्ञ, मनीषी, दूरदर्शी, निकटदर्शी, धर्मप्राण, न्यायप्रिय, मेधावी, तपस्वी, ज्ञानी, प्रतापी, विज्ञानी, तेजस्वी, ओजस्वी, साधुशील, नीतिज्ञ, शूरवीर, रथी, महारथी, अतिरथ, सत्यनिष्ठ, सद्वृत्त, वाग्मी, साहसी, समर्थ व्यक्तित्व थे।

और उसके बाद भी बहुत से लोकोत्तर व्यक्तित्व हुए हैं, पर श्रीकृष्ण का 'वैशिष्ट्य' उस के बाद कहीं गोचर नहीं होता, त्रिकालविद, पराक्रमी कृष्ण,—दान, दया, दक्षता, ज्ञान, शौर्य, स्मृति, धृति, प्रज्ञा, कौशल, विनय, धर्म, विद्या, अविद्या, अवितथ, कीर्ति, तुष्टि, पुष्टि, रूपमाधुरी, वाङ्माधुरी, कालत्रयचिन्तक सभी के प्रतीक थे।

उन्हें समकालीन व्यक्तित्व इन नामों से समादर देते—अधोक्षज, प्रत्यगात्मा, आप्तकाम, अच्युत, सनातन, वाग्मी, अपराजित, पुण्डरीकाक्ष, महाबाहु, दुर्जेय, मधुसूदन, हरि, लोकप्रिय, लोकेश, लोकनाथ, करुण, प्रभु, योगेश्वर, नारायण, गोविन्द, हृषीकेश आदि, वे सहस्रों नामों से तात्कालिक जनता के संस्मरणों में आते रहे।

यही कारण है कि जनता इन्हें आजतक न भूल सकी। यद्यपि उनके कीर्तिस्तम्भ एकत्रित नहीं हैं। उनका—"बाल-एवं-तरुण", रूप भागवत में, "युवा-एवं-नैतिक" रूप महाभारत में, "योगेश्वर एवं विराट्" रूप भगवद् गीता में, "लोक-प्रिय एवं रसिक" रूप 'आनन्द वृन्दावन चम्पू आदि में है।

ये इतने बड़े बड़े और दुरूह ग्रन्थ हैं, कि जिन्हें जनता 'मात्र' सुन सकती है। सिवा कतिपय विद्वद्वर्ग, रसिक कवियों और सन्त भक्तों के, स्वयं व्यक्तित्व को एकाई से पढ़ नहीं सकती। प्रचार की आवश्यकता तभी होती है, जब कि हम अपनी उस सम्पत्ति को भूले हुए होते हैं, जो अपनी थी और तब वार्षिकोत्सव मनाए जाते। उस गुमी निधि की पुनः अनुस्मृति के लिए ही उसे पुनः पाने के लिए ही।

और तब गंबाई सम्पत्ति की पुनः "आडिट" होती है, इस लिए अब हम यहां श्रीकृष्ण जी के लौकिक एवं लोकातीत कीर्तनीय गुणों का कीर्तन अर्थात् परिगणन दे रहे हैं। कीर्तनीयः सदा हरिः।

शस्त्रास्त्रशास्त्रविद् "नैतिक कृष्ण"

जरासन्धयुद्ध, जरासन्धका नैतिक वध, जरासन्घ की कारा से राजाओं की मुक्ति। कालयवनयुद्ध, कालयवन का नैतिक वध।

पार्थसारथी श्रीकृष्ण, शान्तिदूत श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण की अग्रपूजा, शिशुपाल-चेदीराजवध। श्रीकृष्ण की युद्ध में शस्त्र न धारण करने की नीति। जयद्रथ वध। इस प्रकार श्रीकृष्ण अपने कौशल से कितने ही प्रजापतियों को सिंहासनों पर बैठाते, और उतारते रहे। दुर्योधन की सभा में पकड़-धकड़ के समय योगेश्वर का "विश्वरूप" लोकप्रिय कायव्यूह का, या लोकप्रिय आतंकवादिता का संकेत देता है।

नेता

उस समय एक दुर्धर्ष लोकप्रिय का, इन्द्रप्रस्थ के सम्राट् के लिए भी वन्दी कर-लेना कितना असामान्य कार्य रहा।

"उदार कृष्ण"

सुदामा का स्वागत, कुब्जा का उद्धार, गोपसख्य, गोवर्धनधारण। "रसिक कृष्ण", रुक्मिणीहरण।

"सर्वज्ञ कृष्ण" वसुदेव जी को "ब्रह्मजिज्ञासापूर्ति।

"सत्यसन्ध कृष्ण" सत्यभामापरिणय।

"संरक्षक श्रीकृष्ण" द्रुपदसुता के चीरसम्वर्धन।

"व्रजांगनाओं के दयित श्रीकृष्ण"

"यस्य योगं न वाञ्छन्ति वियोगभयकातराः"

"शार्ङ्गपाणि विजेता कृष्ण" अरिष्टासुर, मधुक, धेनुक, केशी, विध्वंसक।

"राजन्य नेता वीर पराक्रमी कृष्ण" जरासन्ध, शिशुपाल, दन्तवक्त्र, विजेता, निर्मोच राजा के छे हजार वीर वन्दी कर्ता श्रीकृष्ण।

संदीपन मुनि के मृतप्राय या मृत पुत्र के जीवनदाता, श्रीकृष्ण में मानवता के सभी सद्गुणों का सद्भाव था।

शान्तिस्थापना का प्रयास, गीतामृत का दान, यथार्थ-लोक-हित। न्याय-धर्म-प्राण राज्यों के निर्माता।

"श्रीकृष्ण" समकालीन महान् से महान् व्यक्तियों के भगवान् थे। श्रीकृष्ण इतने धर्मात्मा थे। उन के लिए कहा गया है, कि जहां कृष्ण हैं वहीं धर्म है। जहां धर्म के अर्थ—

सचाई, भलाई, विजय, कर्तव्य, मर्यादा, सत्प्रेरणा, यथार्थ, आदर्श, सब हैं।

"भीष्म" के शब्दों में

गीतकीर्ति, गोविन्द, गोपप्रिय, करुण, श्रीवत्स, महाबाहू, अजेय, श्रीकृष्ण, हमारे ऋत्विज, गुरु. आचार्य, नेता, राष्ट्रपति, पथनिर्देशक, प्रियबन्धु, हितैषी, मित्र, सब कुछ हैं।

इस तरह से श्रीकृष्ण जी का अस्तित्व जीवन की अनेकरूपता को लिए हुए है एवं इन्द्रधनुषी रंगीनियों से भरा पड़ा है।

अब हम गीतासंगीत के कतिपय प्रतीकों के आधार पर ४ "योगेश्वर" इस चतुर्थ चरण के रहस्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न करें गे।

"योगेश्वर कृष्ण" का सख्यभाव

"समोऽहं सर्वभूतेषु, – ९-२९" "सर्वभूतहिते रतः—५-१५" येषां साम्ये स्थितं मनः —५-१९, सुहृत् सर्वभूतानां—५-२९। समबुद्धिः विशिष्यते—६-९। सर्वत्र समदर्शनः—६-२९। आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति, स योगी परमो मतः—६-३२।

इस तरह से श्रीकृष्ण प्राणिमात्र से समता-भाव के प्रतीक हैं।

अहमात्मा गुडाकेशः सर्वभूताशयस्थितः —१०-२० यहां "अह" शब्द "आत्मा" के लिए प्रयुक्त हुआ है। और

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति "प्रभुः" ६-१४

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं "विभुः" ६-१५

यहां पर —"प्रभु" शब्दों का प्रयोग आत्मेतर "अव्यक्तसत्ता" के लिए हुआ है।

आशय कि इन दो पदों में श्रीकृष्ण जी ने अपने को 'मानव' माना है, —११-४९ व्यपेत भी" प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेष में "रूप" मिदं प्रपश्य "दृष्ट्वेदं" "मानुषं रूपं" तव सौम्य जनार्दन" १९-५९ में तो श्रीकृष्ण जी का मानव रूप और विस्पष्ट हो जाता है। पर इसतरह गीतादर्शन का अध्ययन कर लेने के बाद "वासुदेवः सर्वमिति" के व्याख्याता को समर्थ योगेश्वर मानने से हृदय इन्कार नहीं करता।

इस लिए भी कि श्रीकृष्ण जी ने 'गीता' द्वारा हमें देवत्व दिया, और हमने श्रीकृष्ण जी से 'देवत्व' लिया।

आखिर श्रीकृष्ण जी ने हमें जो दिया, 'मानव' होकर दिया, हमने जो लिया 'मानव' बनकर लिया।

बद्ध मुक्त की परिभाषा सीखी। ईश्वर का ऐश्वर्य पाया। प्रकृति पुरुष की अनादिता समझी। ज्ञान - विज्ञान को परखा। भक्तियोग का रस लिया। धर्म और सत्य की पड़ताल की। कर्म की उपादेयता समझी। आनन्द और आत्यन्तिक शान्ति एकेश्वर की सृष्टि में सत्व रज तम स्वभाव धर्म के आधार जीवों में तारतम्य या वैषम्य का अधिगम किया। विवेक ज्ञान से विद्या अविद्या में का अन्तर समझा।

ऐकान्तिक प्रसार की अनुभूति की। 'मन' वशीकार की उपायना प्राप्त की। कहना पड़ेगा कि गीतादर्शन का अनुशीलन "वासुदेव: सर्वमिति" की व्याख्या देता है। और तब योगेश्वर के कायव्यूही विश्वदर्शन, एवं शक्तिपाती दिव्यचक्षु के बाद का युद्धस्थली में पार्थ को विराट् दर्शन, अपना समाधान स्वयं दे देते हैं।

"रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्" ११-४७ से योगेश्वर का स्वत्व इन दोनों कुतुहली पहलुओं पर सुरक्षित लगने लगता है।

जो 'विभूति' मानव को गीताशास्त्र से मिली वह सम्पत्ति उसे और कहीं से न मिल सकी। गीता का अनुशीलन चित्तवृत्तियों, संकल्पों, विचारों एवं सभी प्रकार की भावनाओं पर साधिकार वशीकार का स्वत्व देता है।

मन्मना भव मद् भक्तो मद् याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

आत्माराम होने का महामंत्र है॥ जिस तरह "सौजन्य" जुदाई के समय "औत्सुक्य" से पुनर्मिलन का आग्रह करता है; इसी तरह जनताहृदय आज भी कृष्णचरित को पुकारता है॥



पग घुंघरू बांध मीरां नाची रे।
मैं तो अपने नारायण की, आप ही हो गई दासी रे।
लोग कहें मीरां भई बावरी, न्यात कहें कुलनासी रे।
विष का प्याला राणा जी भेज्यो, पीवत मीरां हासी रे।
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर, सहज मिले अविनासी रे।

(मीरां बाई)

सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः

(तैतिरीयोपनिषद्)

—डा० महेश चन्द्र शर्मा

उपनिषद् भारतीय आध्यात्मिक तथा दार्शनिक विचारधारा के मूल स्रोत हैं। इनमें आत्मा, ब्रह्म, प्रकृति, मोक्ष, सृष्टि, उत्पत्ति इत्यादि विषयों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उपनिषदों में स्थान २ पर कहा गया है—

"आत्मा वा अरे श्रोतव्यः, मन्तव्यः, निदिध्यासितव्यः साक्षात्कारितव्यः" अर्थात् आत्मा के विषय में श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा साक्षात्कार करना चाहिए। प्राचीनकाल में शिष्य गुरुकुलों में रह कर शिक्षा प्राप्त किया करते थे। शिक्षाप्राप्ति के अनन्तर जब शिष्य संसार में प्रवेश पाने के लिए तैयार होता था, उस समय गुरु दीक्षान्तभाषण के रूप में उसे आत्मोन्नति के मार्ग प्रदर्शित करते हुए कहता था—

(१) सत्यं वद
(२) धर्मं चर
(३) स्वाध्यायान्मा प्रमदः।

निःसंदेह आज भी वेद के इस संदेश को अगर हम अपने जीवन में अपना लें तो हमारा कल्याण हो सकता है। सत्यं वद आचार्य का शिष्य को पहला संदेश था। सत्यं वद अर्थात् सत्य बोलो। सत्य का व्यवहार तथा आचरण आत्मा को बल प्रदान करता है। सत्य जीवन को उच्चता की ओर ले जाता है।

इसमें संदेह नहीं कि सत्यमार्ग पर चलने वाले पथिक को अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता है लेकिन अन्तिम विजय सत्य की ही होती है। वेदों में ऋत और सत्य से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन पाया जाता है। उपनिषदों में तो सत्य की महिमा का वर्णन स्थान स्थान पर देखने को मिलता है।

जैसे :— "सत्येन पन्थाः विततः देवयानः" अर्थात् सत्य से देवयान के मार्ग प्रशस्त होते हैं। अन्यत्र "सत्यमेव जयते नानृतम्" अर्थात् सत्य की ही जीत होती है। झूठ की नहीं। अन्य स्थल पर कहा गया है—हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम्" अर्थात् संसार की चमक दमक की चीजों से सत्य का मुख ढका है। हे पूषन्, सत्य की खोज के लिए उस पर्दे को हटा दे। महाभारत में कहा गया है कि :—

यदि तुला के एक पलड़े में एक सहस्र अश्वमेघ यज्ञ तथा दूसरे पलड़े में एक सत्य रखा जाये तो भी सत्य का पलड़ा भारी होता है। अतः सत्य की जीवन में विशेष महिमा है। संसार में आज जो अशांति फैली है, उसका एक मात्र कारण हमारा असत्य व्यवहार है। अगर सभी राष्ट्र सत्य के व्यवहार को अपना लें और सत्य, शिव संकल्प वाले हो जायें तो निःसंदेह संसार युद्ध की भीषण अग्नि से बच सकता है। मनु जी महाराज ने धर्म के जो दस लक्षण, क्षमा, दम, अस्तेय, इन्द्रियनिग्रह, सत्य, अक्रोध इत्यादि किये हैं, उनमें सत्य का भी परिगणन किया गया है। अतः सत्य ही सर्वोत्तम आत्मबल है, और उसके समान कोई धर्म नहीं है।

अतः कहा है :— "न हि सत्यात् परो धर्मः। अर्थात् सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। सत्य से मन की शुद्धि होती है "मनः सत्येन शुध्यति" (मनुः) मन के शुद्ध होने पर मनुष्य भगवान् को भी प्राप्त कर सकता है। भारतीय दर्शन में यम और नियमों का अत्यन्त ही महत्व है, उनमें सबसे प्रथम ही सत्य का नाम आता है।

सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अक्रोध, अपरिग्रह (यम) शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय ईश्वर-प्रणिधान (नियम) अतः सत्य का महत्व सर्वोपरि है। अतः शिष्य के लिए आचार्य का प्रथम उपदेश है— सत्यं वद अर्थात् सत्य बोलो। हिन्दी के एक कवि ने कहा है :—

> साँच बरावर तप नहीं, झूठ बरावर पाप।
> जाके हिरदय सांच है, ताके हिरदय आप ॥

व्यक्ति को आपस के व्यवहार में सत्यता रखनो चाहिए। मन, वचन तथा कर्म से सत्य का ही व्यवहार करना चाहिए, यही मानवोन्नति का प्रथम सोपान है।

आचार्य का शिष्य को दूसरा उपदेश है—

धर्मं चर—धर्म का आचरण करो। धर्म शब्द "धृ" धातु से बनता है अर्थात् "धार्यते इति धर्मः" अर्थात् जो धारण किया जाता है उसे धर्म कहते हैं। मानव-जीवन में धर्म की स्थिति उसी प्रकार है जिस प्रकार अग्नि में ताप की स्थिति। अग्नि जल रही है, जब-तब ताप देती है, सभी उसे अग्नि कहते हैं, परन्तु

ज्यूहीं ताप देना बन्द कर देती है सभी उसे राख कहते हैं। अतः स्पष्ट है कि धर्म के विना मनुष्य भी मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं है। नीतिकार ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में कहा है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च,
समानमेतत्पशुभिः नराणां।
धर्मो हि तेषां अधिको विशेषो,
धर्मेण हीनः पशुभिः समानः।।

अर्थात् आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन, ये पशुओं और मनुष्यों में समान हैं। धर्म ही मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता है। धर्म से हीन मनुष्य पशु के समान है। गीता में कहा गया है—जो धर्म को मार देता है, धर्म उसे मार देता है, जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी धर्म रक्षा करता है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि धर्म के क्या लक्षण हैं। मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षण इस प्रकार किये हैं—

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, सत्य, अक्रोध, इत्यादि धर्म के लक्षण हैं।

नीतिकार ने एक स्थान पर कहा है—

"येषां न विद्या न तपो न दानम्,
ज्ञानं न शीलं गुणो न धर्मः,
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूताः,
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।।

अर्थात् जिन के पास न विद्या है, न तप है, न दान है, न ज्ञान है, न सदाचार है और न कोई धर्म है, वे लोग संसार में भारभूत हैं और मनुष्य के रूप में पशु बन कर विचरते हैं।

महाभारत में विदुर से युधिष्ठिर ने बार २ प्रश्न किया था, कः पन्थाः ? अर्थात् कौन सा मार्ग अपनाने योग्य है। उसके उत्तर में महामुनि विदुर ने यह कहा था—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः
नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः सः पन्थाः।

अर्थात् तर्क, वितर्क अप्रतिष्ठित हैं, वेद और शास्त्र भी आपस में भिन्न २ विचारधारा प्रस्तुत करते हैं, धर्म का तत्व अत्यन्त गम्भीर है, अतः श्रेष्ठ पुरुष

जिस मार्ग से चलते हैं, वही मार्ग अपनाने योग्य मार्ग है। अतः श्रेष्ठ लोगों द्वारा अपनाये जाने वाला मार्ग ही धर्म है।

यक्ष ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया था कि धर्मस्य किं लक्षणं प्रोक्तम् अर्थात् धर्म का क्या लक्षण कहा गया है, तब युधिष्ठिर ने कहा था—

धर्मः स्वकर्मवर्तित्वम् अर्थात् अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही धर्म है।

मानव को मानव इस लिए कहा जाता है क्योंकि वह मननशील प्राणी है। मत्वा कर्माणि सीव्यति अर्थात् मनन करके कार्य करता है अतः इसे मनुष्य कहा जाता है।

अतः धर्म का महत्व जीवन में सर्वोपरि है। धर्म से आत्मा को अद्वितीय शक्ति प्राप्त होती है, अतः जीवन में धर्म का आचरण करना चाहिए। धर्म के तत्व को इस तरह भी देखा जा सकता है—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

अर्थात् जो बात हमें अच्छी नहीं लगती, उसका दूसरों के प्रति भी आचरण न करो। यही संक्षेप में धर्म है।

शिष्य को आचार्य तीसरा उपदेश देता है—

स्वाध्यायान्मा प्रमदः—स्वाध्याय से प्रमाद मत करो। स्वाध्याय का अर्थ है सत्य, वेद और शास्त्रों का अध्ययन करना। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते किंचित्।

अर्थात् ज्ञान के समान पवित्र वस्तु इस संसार में और कोई नहीं है। दार्शनिकों ने आप्त वचन को शब्द प्रमाण माना है। इससे भी स्वाध्याय की महत्ता प्रकट होती है। शास्त्रों के अध्ययन से मनुष्य की बुद्धि विकास को प्राप्त होती है। लौकिक एवं पारलौकिक विषयों के ज्ञान का एकमात्र साधन स्वाध्याय ही है। मनु जी ने एक स्थान पर कहा है—

'विद्यातपोभ्यां पूतात्मा' अर्थात् विद्या और तप से आत्मा की शुद्धि होती है। अतः स्वाध्याय से प्रमाद मत करो।

स्वाध्याय का थोड़ा अगर हम विस्तृत अर्थ लें तो इसे सत्संगति से भी जोड़ा जा सकता है? श्रेष्ठ लोगों के संसर्ग से श्रेष्ठ विचारों को हम प्राप्त करते हैं। अतः वह भी स्वाध्याय है। सत्संगति की महिमा स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि लिखते हैं—

'सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्।'

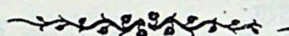
अर्थात् सत्संगति इस संसार में क्या नहीं करती ? अतः सत्पुरुषों की संगति में रहना, उनके विचारों को श्रवण करके उन पर मनन करना, यह भी स्वाध्याय के अन्तर्गत ही आता है।

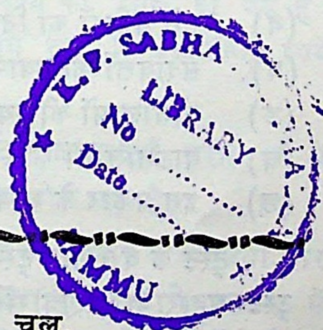
ज्ञान के प्रकाश से हृदय की गांठें छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, सभी संशय दूर हो जाते हैं। अतः शास्त्रकारों ने ज्ञान को ही मुक्ति का मुख्य साधन माना है और कहा है—ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः ? अर्थात् ज्ञान के विना मुक्ति नहीं।

अविद्यारूपी पाश का भेदन स्वाध्याय से ही होता है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश ये पांच क्लेश महर्षि पतंजलि ने अपने योगदर्शन में कहे हैं। अतः इन से मुक्ति के लिए ज्ञान ही अमोघ शस्त्र है, इससे भी स्वाध्याय की महत्ता पुष्ट होती है।

अतः आत्मा के विकास के ये तीन मार्ग आचार्य ने शिष्य को तैतिरीयोपनिषद् में बतलाये हैं।

इनको जीवन में अपनाने से मानव को अभ्युदय तथा निःश्रेयस की सिद्धि हो सकती है। मानवता का कल्याण सत्य के आचरण, धर्म के पालन तथा वेद-शास्त्रों के अध्ययन में ही निहित है।







बहुत रही बाबुल घर दुल्हन चल,
तोरे पी ने बुलाई।
बहुत खेल खेली सखियन सों,
अन्त करी लरकाई।
(अमीर खुसरो)

त्रैमासिकी

जम्मू-कश्मीर राज्य के संस्थापक महाराजा श्री गुलाबसिंह जी ने राज्य की हिन्दु-प्रजा की धार्मिक अपेक्षाओं को पूर्ति के लिये अपने निजी धन से पांच लाख रुपये की धनराशि देकर "श्री रघुनाथ कोष" की स्थापना की। इस धन के व्याज से सदावर्त चलाने, धर्मप्रचार करने, मौजूदा मन्दिरों की मरम्मत और नये मन्दिरों के निर्माण की व्यवस्था को गई थी।

महाराजाधिराज श्रीरणवीर सिंह इस ट्रस्ट के पहले ट्रस्टी थे जिन्होंने ट्रस्ट के लिये निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये :—

(क) धर्म का प्रचार-प्रसार;
(ख) त्रिकुटा पर्वत पर स्थित वैष्णो देवी भवन और पुरमण्डल के शिव मंदिरों की रक्षा एवं नवनिर्माण;
(ग) नये मंदिरों का निर्माण;
(घ) सदावर्त्तों की स्थापना;
(ङ) गोशालाओं की स्थापना और रक्षा;
(च) पाठशालाओं की स्थापना, व्यवस्था और उन्नति तथा
(छ) इस प्रकार के अन्य धार्मिक एवं दान-सम्बन्धी कार्य।

ट्रस्ट के वर्तमान ट्रस्टी डॉ० कर्णसिंह जी के सुयोग्य नेतृत्व तथा निर्देशन में ट्रस्ट महाराजा रणवीरसिंह द्वारा निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये यत्नशील है। वर्तमान समय में ट्रस्ट विस्तार और स्थिरता की स्थिति पर पहुँच रहा है। ट्रस्ट के अधीन मन्दिरों और मठों की व्यवस्था में काफी सुधार लाया गया है और उनकी सुरक्षा तथा उन्नति के लिये खर्च की जाने वाली धन-राशि काफी बड़ी मात्रा में बढ़ा दी गई है। चालू वर्ष में धर्मार्थ ट्रस्ट की प्रमुख गतिविधियों और धर्म-कार्यों के लिये निर्धारित अनुदान एवं व्यय का ब्योरा इस प्रकार है :—

1 ट्रस्ट ने अपनी धार्मिक गतिविधियां देश की राजधानी दिल्ली तक बढ़ा दी हैं और वहां धार्मिक कार्यकलाप का एक केन्द्र "रामायण विद्यापीठ" के नाम से स्थापित किया है। डॉ० कर्णसिंह जी ने १६ अप्रैल १९८० को इस केन्द्र का उद्घाटन किया था।

2 चालू वर्ष के लिये धर्मार्थ ट्रस्ट ने विभिन्न धार्मिक संस्थाओं को पर्व, उत्सव आदि पर व्यय करने के लिये आर्थिक सहायता देने के लिये; मन्दिरों के नवीकरण और नवनिर्माण के लिये, निस्सहाय लोगों की सहायता के लिये; गोशालाओं की संस्थापना और रक्षा के लिये तथा इसी प्रकार के अन्य शुभ कार्यों के लिये 3,00,000.00 रुपये की धन राशि निर्धारित की है।

3 साधुओं और अन्य जरूरतमंद यात्रियों के भोजन के लिये सदावर्तों की योजना चालू की गई है जिस के अन्तर्गत श्रीरघुनाथ मन्दिर जम्मू, माता वैष्णोदेवी के भवन, बनारस तीर्थ और खीर भवानी मन्दिर (काश्मीर) जैसे स्थानों पर भोजन और "सीधे" (रसद) दिये जाते हैं।

4 हरिजनों के कल्याण के लिये विशेष आर्थिक सहायता दी जाती है। पिछले वर्ष 'अखनूर' और 'भिड़ी' में 'कबीर भवन" बनाने के लिये 15,000/- रुपये का अनुदान दिया गया था। इस वर्ष इस मद्द में 30,000/- रुपयों की रकम रखी गई है।

5 अमरनाथ यात्रा के अवसर पर धर्मार्थ ट्रस्ट साधुओं तथा दूसरे यात्रियों की सुख-सुविधा पर लगभग 50,000/- रुपये प्रतिवर्ष खर्च करता है।

6 जम्मू गोशाला को अनुदान के रूप में 10,000/- रुपये की राशि दी गई है। राज्य के भूकम्पग्रस्त लोगों की मदद के लिये ट्रस्ट ने 10,000/- रुपये प्रदान किये हैं।

7 धर्मार्थ ट्रस्ट के कर्मचारियों और पैन्शनरों को अतिरिक्त मंहगाई भत्ता देने से धर्मार्थ के खजाने पर 1,15,000 रुपये प्रतिवर्ष का बोझ पड़ा है।

8 पुस्तकों और पुस्तकालयों के महत्त्व को दृष्टि में रखकर वाचनालयों और पुस्तकालयों की स्थापना में ट्रस्ट विशेष रुचि रखता है। इस ने भद्रवाह में वाचनालय सहित एक पुस्तकालय की स्थापना की है। इस के अतिरिक्त इसने त्रिलावर में धार्मिक लोगों के लिये एक कीर्तन-भवन भी बनवाया है।

9 संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार केलिये अन्तर् स्नातक एव स्नातकोत्तर श्रेणियों के छात्रों के लिये ट्रस्ट ने निम्नलिखित छात्र-वृत्तियां मुकर्रर की हैं:—

(क)	5 स्नातकोत्तर छात्रवृत्तियां		— 75/- रुपये प्रति मास
(ख)	2 अनुसंधान	,,	— 250/- ,, ,,
(ग)	5 सामान्य स्नातकोत्तर छात्रवृत्तियां		— 75/- ,, ,,
(घ)	20 अन्तर् स्नातक	,,	— 40/- ,, ,,
(ङ)	30 हायर सैकेण्डरी	,,	— 25/- ,, ,,

10 वैष्णो देवी के यात्रियों को अधिकाधिक सुख-सुविधाएं प्रदान करने की ओर ट्रस्ट विशेष ध्यान दे रहा है। आद कुआरी पर एक बहुमंज़ली सराय निर्माणाधीन है जिस पर सात लाख रुपये खर्च करने की योजना है। भवन पर यात्रियों के लिये प्रतीक्षाभवन का निर्माण लगभग पूरा हो चुका है। भवन, सांझीछत्त और आद कुआरी नामक स्थानों पर शयनागार और अतिरिक्त कमरों के निर्माण से यात्रियों के लिये आवास की सुविधाएं काफी मात्रा में बढ़ गई हैं। ट्रस्ट ने कटड़ा से माता के भवन तक के 12.5 किलो मीटर मार्ग पर बिजली का प्रकाश निरन्तर जारी रखने के लिये उत्तम प्रबन्ध कर रखा है जिस पर प्रतिवर्ष लाखों रुपयों का खर्च आता है। यात्रियों को भवन, सांझी छत्त, आद कुआरी और कटड़ा में रातभर के लिये दरियां और कम्बल निःशुल्क दिये जाते हैं।

यात्रियों के उपयोग के लिये ट्रस्ट ने जम्मू, बनारस, देहली, भद्रवाह, रामबन और खीरभवानी में सरायें बनवाई हुई हैं जिन पर प्रतिवर्ष हज़ारों रुपये खर्च किये जाते हैं।

11 ट्रस्ट ने चालू वर्ष में कटड़ा वैष्णो देवी के इलाके की दीन-हीन विधवाओं को रोज़गार दिलाने के लिये 8,000/- रुपये की सिलाई मशीनें बांटने की योजना बनाई है। ये मशीनें केवल उन विधवाओं को दी जाएंगी जो मशीन चलाना जानती होंगी। इसके अतिरिक्त निस्सहाय विधवाओं एवं नारियों की आर्थिक सहायता के लिये, उनकी लड़कियों के विवाहों के लिये और स्कूली छात्रों की पुस्तकों तथा वर्दियों पर व्यय करने के लिये ट्रस्ट ने 10,000 रुपये की धन-राशि निर्धारित कर रखी है।

गणेशदास शर्मा
सैक्रेटरी
जम्मू व काश्मीर धर्मार्थ ट्रस्ट
जम्मू।

मंगल कामना

"धर्मः सखा परमहो ! परलोकयाने"

परलोक की यात्रा में एक मात्र पक्का सहायक तथा मित्र धर्म ही है। इस वचन के अनुसार 'धर्म मार्ग' पत्र का प्रकाशन होने से अनेक सज्जन 'धर्म मार्ग' के प्रकाशाभाव से नारकीय गर्तों में गिरने से बचेंगे और उद्धार प्राप्त करेंगे, ऐसी सम्भावना है।

भगवान् श्रीहरि परिपूर्ण करें।

श्री मदन मोहन शास्त्री
जम्मू।

......आप की पत्रिका के प्रकाशन के लिए मैं शुभ कामनाएं भेजता हूं।

श्री राजेन्द्र अवस्थी
सम्पादक, कादम्बिनी, नई दिल्ली।

......समाचार यह जान कर हर्ष हुआ कि पुनः 'धर्म मार्ग' नामक पत्रिका का प्रकाशन कर रहे हैं। इस के लिए कृपया मेरी हार्दिक वधाई स्वीकार करें। मेरी एवं मेरे सहयोगियों एवं संस्थान की शुभ कामनाएं आप के साथ हैं।

श्री केदार नाथ 'प्रभाकर'
सम्पादक : काल विज्ञान
स्वामी रामतीर्थ नगर सहारनपुर (उ० प्र०)

......आप के सम्पादकत्व में 'धर्म मार्ग' के पुनर्मुद्रण की सूचना पाकर अपार प्रसन्नता हुई। 'धर्म मार्ग' पत्रिका ने पहले भी अल्पकाल के प्रकाशन में जम्मू-कश्मीर की धार्मिक एवं सांस्कृतिक संचेतना की संदेश-वाहिका बन कर बड़ा स्तुत्य काम किया।

प्रो० चमन लाल सप्रू
१८०-लाल नगर, श्रीनगर, काश्मीर।

……यह जान कर निश्चय ही हर्ष का अनुभव हुआ कि आप दुबारा 'धर्म मार्ग' का प्रकाशन आरम्भ कर रहे हैं। इसके उपलक्ष्य में मेरी शुभ कामनाएं स्वीकार कीजिए।

डा० अयूब 'प्रेमी'
जे—६, जवाहर नगर
श्रीनगर, काश्मीर।

——

……पत्रिका के लिए शुभ कामनाओं सहित—

श्री केदार नाथ कोमल
अनुभाग अधिकार,
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग,
नई दिल्ली।

——

……'धर्म मार्ग' अब यद्यपि त्रैमासिक रूप में ही प्रकाशित हो रहा है तो प्रभु से यह मंगल कामना है कि आप का यह पत्र निकट भविष्य में ही साहित्यिक कल्पतरु के रूप में पल्लवित हो सके।

डा० छैल बिहारी गुप्त
आनन्द भवन, माधव नगर
उज्जैन (म० प्र०)

——

यह जान कर प्रसन्नता हुई कि 'धर्म मार्ग' का पुनः प्रकाशन त्रैमासिक पत्रिका के रूप में किया जा रहा है। आप को इसके लिए मेरी ओर से शुभ कामना एवं हार्दिक बधाई।

श्री कन्हैया लाल गौड़
एम. ए. साहित्य रत्न
उज्जैन (म० प्र०)

——

यह जान कर कि 'धर्म मार्ग' का प्रकाशन, आप के संपादकत्व में पुनः प्रारम्भ किया जा रहा है। आयोजक अपने इस ऐतिहासिक निर्णय के लिए निश्चय ही साधुवाद के पात्र हैं।

श्री निर्मल विनोद
हरिसिंह नगर जम्मू।

——

······यह जान कर हर्ष हुआ कि 'धर्म मार्ग' का पुनः प्रकाशन हो रहा है। पहले मैं 'धर्म मार्ग' में रचनाएं भेजा करता था। आप के पत्र का उत्तर विलम्ब से देने का कारण यह है कि मैं जुलाई और अगस्त में जर्मनी, फ्रांस, डेनमार्क इटली और इंगलैंड की यात्रा पर था।

······मुझे आशा है कि आप के सम्पादकत्व में 'धर्म मार्ग' स्तरीय पत्रिकाओं में अपना स्थान बना सकेगा।

डॉ० सुरेश चन्द्र त्यागी
४, कालेज क्वार्टर
तिलक नगर, सहारनपुर।

——

यह जान कर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि 'धर्म मार्ग' पुनः प्रकाशित होने जा रहा है। हमारी ओर से रचनात्मक सहयोग मिलता रहेगा।

श्री नंद किशोर नंदन
नया टोला, मुज्जफरपुर,
बिहार।

——

······एक लम्बे अंतराल के बाद 'धर्म मार्ग' के त्रैमासिक रूप में पुनः प्रकाशन के शुभ समाचार से बहुत प्रसन्नता हुई।

डा० मलखान सिंह सिसौदिया
प्राचार्य—अविनाशी सहाय आर्य
इण्टर कालेज, एटा।

——

दीर्घ अंतराल के बाद 'धर्म मार्ग' पुनः निकल रहा है, यह जान कर प्रसन्नता हुई। 'धर्म मार्ग' ने जम्मू व काश्मीर की साहित्यिक सांस्कृतिक—धार्मिक थाती को हिन्दी जगत् तक पहुंचाने में अनुकरणीय भूमिका निभाई है।

डा० शिबन कृष्ण रैना
९४—बैंक कालोनी
अलवर, (राज०)

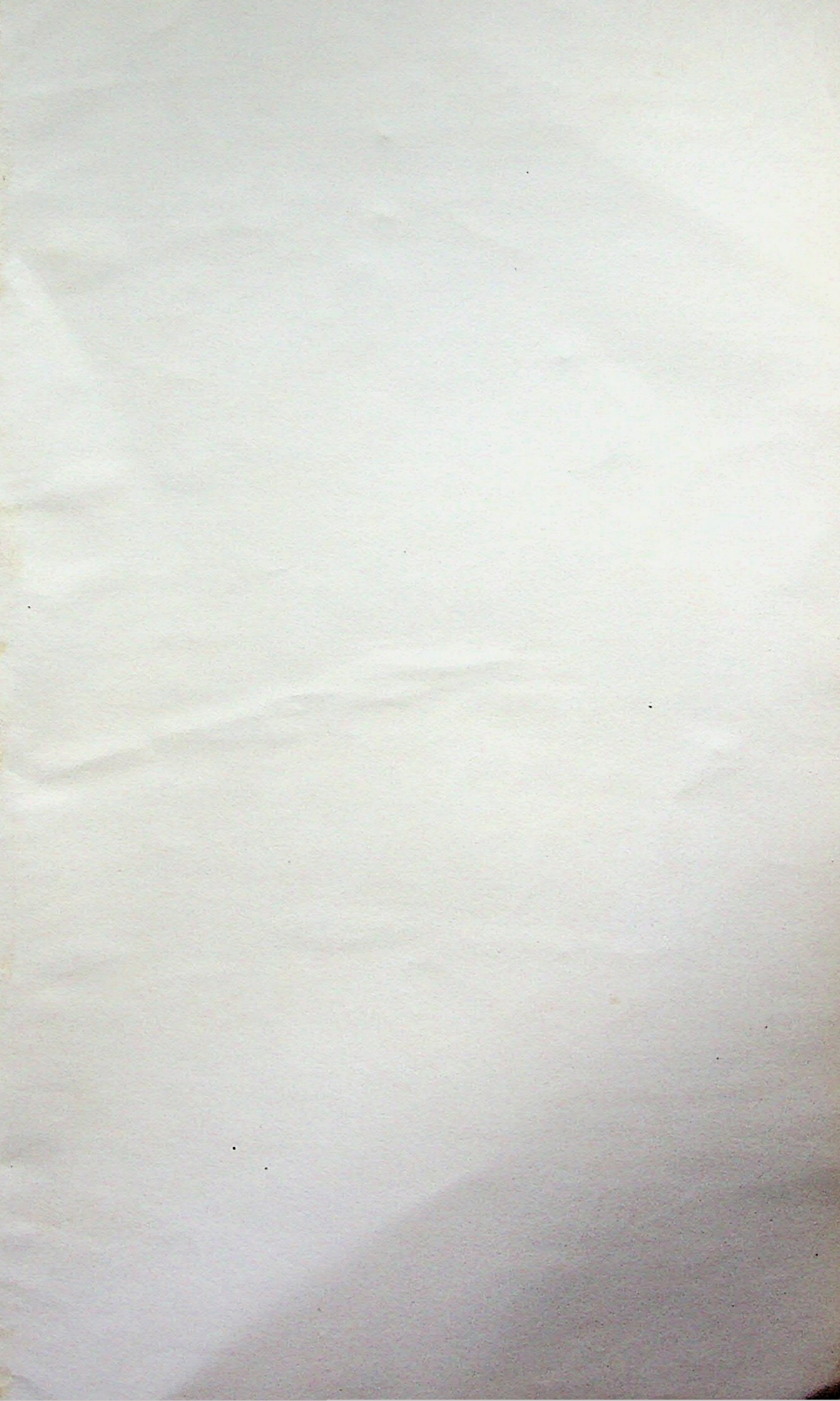
——

प्रिय मधुकर जी,

आपका पत्र मिला। प्रसन्नता की बात है कि 'धर्म मार्ग' का प्रकाशन फिर से शुरु कर रहे हैं। आपके अनुरोध पर एक टिप्पणी भिजवा रहा हूं।

सानन्द होंगे,

आप का
जयप्रकाश भारती
सम्पादक—'नंदन'
हिन्दोस्तान टाइम्स प्रकाशन,
नई दिल्ली।




यतो धर्मस्ततो जयः